आगम हिन्दी-संस्करण ग्रन्थमाला

ग्रन्थ : १

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

दशवैकालिक

और

उत्तराध्ययन

वाचना - प्रमुख
आचार्य तुलसी

संपादक-अनुवादक
मुनि नथमल

सहयोगी
मुनि मीठालाल
मुनि दुलहराज

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जैं० वि० भा०)

प्रकाशन तिथि :
विक्रम सवत् २०३१
कार्तिक कृष्णा १३
(२५००वाँ निर्वाण-दिवस)

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली-९

प्रकाशकीय

जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा (कलकत्ता) द्वारा आगम-प्रकाशन का कार्य आरम्भ हुआ, तभी से मेरा यह सुझाव रहा कि अग्रेजी के 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईष्ट सीरीज' की तरह आगम ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद मात्र की एक ग्रन्थ-माला आरम्भ की जाय। हर्ष है कि इस ग्रन्थ के साथ उक्त कार्य का **'जैन विश्व भारती' संस्थान** के द्वारा सूत्रपात हो रहा है।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दोनो आगम-ग्रन्थ जैन आचार-गोचर और दार्शनिक विचारधारा का अनन्य प्रतिनिधित्व करते है और इस दृष्टि से बडे ही महत्वपूर्ण है। दशवैकालिक मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि धर्म-तत्त्वो और आचार-विचार का विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन है तो उत्तराध्ययन मे वैराग्यपूर्ण कथा-प्रसगों के द्वारा धार्मिक जीवन का अति प्रभावशाली चित्राकन तथा तात्त्विक विचारो का हृदयग्राही सग्रह है।

उक्त दोनो आगमो मे भगवान् महावीर की वाणी का पर्याप्त सग्रह है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण शताब्दी के पावन अवसर पर उक्त आगमो का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लिए अत्यन्त उपादेय होगा। इससे भगवान् महावीर के चिन्तन, विचार, दर्शन और धर्म-क्रान्ति आदि का सम्यक् परिचय पाठको को उपलब्ध होगा।

दशवैकालिक एव उत्तराध्ययन इन दोनो आगमो के मूलपाठ, सस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और विशद टिप्पणियो से सयुक्त अलग-अलग सस्करण जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा (कलकत्ता) द्वारा प्रकाशित हो चुके है। दशवैकालिक का दूसरा सस्करण 'जैन विश्व भारती' द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस हिन्दी अनुवाद के बाद उन ग्रन्थो का अवलोकन पाठको को और भी अधिक आनन्द की रसानुभूति प्रदान करेगा।

हमे आशा है कि हमारे इस प्रकाशन का सर्वत्र स्वागत होगा।

४६८४, अन्सारी रोड
२१, दरियागज
दिल्ली-६

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन

सम्पादकीय

आगम-सम्पादन का कार्य बीस वर्षों से चल रहा है। आचार्यश्री तुलसी के मन में आगम-संपादन का एक संकल्प उठा। कुछ ही दिनों में उस की क्रियान्विति शुरू हो गई। वह आज एक वाचना का रूप ले रही है।

जैन परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। आज से डेढ हजार वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएं हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उनके वाचना-काल में जो आगम लिखे गये थे, वे इस लम्बी अवधि मे बहुत ही अव्यवस्थित हो गये हैं। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए फिर एक सुनियोजित सामूहिक वाचना का प्रयत्न भी किया गया था, परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमारी वाचना अनुसन्धानपूर्ण, गवेषणापूर्ण, तटस्थ दृष्टि-समन्वित तथा सपरिश्रम होगी तो वह अपने-आप सामूहिक हो जायेगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारंभ हुआ है।

हमारी इस वाचना के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति मे अध्यापन क्रम के अनेक अंग है—पाठ का अनुसन्धान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक, अध्ययन, तुलनात्मक अध्ययन, आदि-आदि। इन सभी प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का हमें सक्रिय योग, मार्ग-दर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।

आचार्यश्री हमारी हर प्रवृत्ति में प्रकाश-दीप है। उनसे प्रकाश प्राप्त कर हम तमिस्र मे भी अपना पथ खोज लेते है। उनके प्रति आभार प्रकट करना सामर्थ्य से परे है।

मुनि मीठालालजी, जो वर्तमान में गण-मुक्त साधना कर रहे हैं, इसके अनुवाद मे सहयोगी रहे हैं।

अनुवाद, सम्पादन और प्रतिशोधन के कार्य में मुनि दुलहराजजी का अनवरत योग और श्रम रहा है।

'दशवैकालिक' और 'उत्तराध्ययन' ये दोनों मूल सूत्र है। जैन-परंपरा मे इनका अध्ययन, वाचन और मनन बहुलता से होता है। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर इनका अध्ययन और मनन अधिक मात्रा में हो, यह अपेक्षित है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर केवल अनुवाद की ग्रन्थमाला पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है। इससे हिन्दी-भाषी पाठक बहुत लाभान्वित होंगे।

भगवान् महावीर की सर्वजनहिताय जनभाषा (प्राकृत) में प्रादुर्भूत वाणी को वर्तमान जनभाषा (हिन्दी) मे शृंखलाकार प्रस्तुत करते हुए हमे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

अणुव्रत विहार **मुनि नथमल**
नई दिल्ली-१

स्व कथ्य

जैन आगमो में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनो परम्पराओं के आचार्यों ने इनका बार-बार उल्लेख किया है। दिगम्बर-साहित्य में अग-बाह्य के चौदह प्रकार बतलाए गए है, उनमें सातवाँ दशवैकालिक और आठवाँ उत्तराध्ययन है।

श्वेताम्बर-साहित्य मे अग-बाह्य श्रुत के दो मुख्य विभाग हैं—

(१) कालिक और (२) उत्कालिक। कालिक सूत्रो की गणना मे पहला स्थान उत्तराध्ययन का और उत्कालिक सूत्रो की गणना में पहला स्थान दशवैकालिक का है।

ये दोनो 'मूल' सूत्र है। इन्हे मूल सूत्र मानने के दो कारण है—

१. ये दोनो मुनि की जीवन-चर्या के प्रारम्भ मे मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमो का अध्ययन इन्ही के पठन से प्रारम्भ होता है।

२. मुनि के मूल गुणो—महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का इनमें निरूपण है।

'मूल-सूत्र' वर्ग की स्थापना विक्रम की १४ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुई थी। इससे पूर्व इस विभाग की चर्चा प्राप्त नही होती।

दशवैकालिक

इस सूत्र में दस अध्ययन हैं और इसकी रचना विकाल-वेला मे हुई थी, इसलिए इसका नाम दश+वैकालिक=दशवैकालिक रखा गया। यह निर्यूहण कृति है, स्वतंत्र नही। इसके कर्त्ता शय्यंभव श्रुतकेवली थे। उन्होने चम्पा नगरी में वीर सवत् ७२ के आसपास इसका निर्यूहण अपने पुत्र-शिष्य मनक के लिए किया।

इसमे दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। इनमे ५१४ गाथाएँ और ३१ सूत्र है। पूरा विवरण इस प्रकार है :—

	अध्ययन	श्लोक	सूत्र	विषय
१.	द्रुमपुष्पिका	५		धर्म-प्रशसा और माधुकरी-वृत्ति।
२.	श्रामण्यपूर्वक	११		सयम में धृति और उसकी साधना।
३.	क्षुल्लिकाचार-कथा	१५		आचार और अनाचार का विवेक।
४.	धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	२८	२३	जीव-सयम तथा आत्म-सयम का विचार।
५.	पिण्डैषणा	१५०		गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
६.	महाचार	६८		महाचार का निरूपण।
७.	वाक्यशुद्धि	५७		भाषा-विवेक।
८.	आचार-प्रणिधि	६३		आचार का प्रणिधान।
९.	विनय-समाधि	६२	७	विनय का निरूपण।
१०.	सभिक्षु	२१		भिक्षु के स्वरूप का वर्णन

चूलिका

१.	रतिवाक्या	१८	१	सयम मे अस्थिर होने पर पुन स्थिरीकरण का उपदेश।
२.	विविक्तचर्या	१६		विविक्त-चर्या का उपदेश।

उत्तराध्ययन

इसमे दो शब्द है -'उत्तर' और 'अध्ययन'। निर्युक्तिकार के अनुसार ये अध्ययन आचाराग के उत्तरकाल मे पढे जाते थे इसलिए इन्हे 'उत्तर अध्ययन, कहा गया। श्रुतकेवली शय्यभव के पश्चात् ये अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल मे पढे जाने लगे, इसलिए ये 'उत्तर अध्ययन' ही बने रहे।

रचना-काल और कर्तृत्व

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन किसी एक कर्ता की कृति नही है।

इस सूत्र के अध्ययन कब और किसके द्वारा रचे गए, इसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए साधन-सामग्री सुलभ नहीं है।

उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं कि उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईसवी सन् ४००, लगभग हजार वर्ष की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

कई विद्वान ऐसा मानते हैं कि उत्तराध्ययन के पिछले अठारह अध्ययन प्राचीन है और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन, किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई पुष्ट साक्ष्य प्राप्त नही है। यह सही है कि कई अध्ययन बहुत प्राचीन हैं और कई अर्वाचीन।

वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों का सकलन कर उसे एकरूप दिया।

उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग मे परिगणित होता है। इससे यह अनुमान लगता है कि इसके प्राचीन सस्करण का मुख्य भाग कथा-भाग था।

वर्तमान मे प्राप्त उत्तराध्ययन मे अनेक अनुयोगो का समावेश है। इसमे १४ अध्ययन धर्मकथात्मक (७, ८, ९, १२, १३, १४, १८ से २३, २५ से २७), छह अध्ययन उपदेशात्मक (१, ३, ४, ५, ६ और १०), नौ अध्ययन आचारात्मक (२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५) तथा सात अध्ययन (२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६) सैद्धान्तिक है।

इन तथ्यो से यह फलित होता है कि यह सकलन-सूत्र है, एक-कर्तृक नही।

आकार और विषय-वस्तु

इस सूत्र के ३६ अध्ययनो में १६३८ श्लोक तथा ८९ सूत्र है। प्रत्येक अध्ययन का विषय भिन्न-भिन्न है। उसका विवरण इस प्रकार है –

	अध्ययन	श्लोक	सूत्र	विषय
१.	विनय-श्रुत	४८		विनय का विधान, प्रकार और महत्व।
२.	परीषह-प्रविभक्ति	४६	३	श्रमण-चर्या मे होने वाले परीषहो का प्ररूपण।
३.	चतुरगीय	२०		चार दुर्लभ अंगो का आख्यान।
४.	असस्कृत	१३		जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का प्रतिपादन।
५.	अकाम-मरणीय	३२		मरण के प्रकार और स्वरूप-विधान।

	अध्ययन	श्लोक	सूत्र	विषय
६.	क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय	१७		ग्रन्थ-त्याग का संक्षिप्त निरूपण।
७.	उरभ्रीय	३०		उरभ्र, काकिणी, आम्रफल, व्यवहार और सागर—पांच उदाहरण।
८.	कापिलीय	२०		ससार की असारता और ग्रन्थि-त्याग।
९.	नमि प्रव्रज्या	६२		इन्द्र और नमि राजर्षि का संवाद।
१०.	द्रुमपत्रक	३७		जीवन की अस्थिरता और आत्म-बोध।
११.	बहुश्रुत-पूजा	३२		बहुश्रुत व्यक्ति का महत्व-ख्यापन।
१२.	हरिकेशीय	४७		जाति की अतात्त्विकता का संबोध।
१३.	चित्र-सम्भूति	३५		चित्र और सम्भूति का सवाद।
१४.	इषुकारीय	५३		ब्राह्मण और श्रमण सस्कृति का भेद-दर्शन।
१५.	सभिक्षुक	१६		भिक्षु के लक्षणों का निरूपण।
१६.	ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान	१७	१३	ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानो का वर्णन।
१७	पाप-श्रमणीय	२१		पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण।
१८.	सजयीय	५३		जैन-शासन की परम्परा का सकलन।
१९.	मृगापुत्रीय	९८		श्रमण-चर्या का सागोपाग दिग्दर्शन।
२०.	महानिर्ग्रन्थीय	६०		अनाथता और सनाथता।
२१	समुद्रपालीय	२४		वध्य चोर के दर्शन से सम्बोधि।
२२	रथनेमीय	४९		पुनरुत्थान।
२३.	केशि-गौतमीय	८९		केशि और गौतम का सवाद।
२४.	प्रवचन-माता	२७		पाँच समिति तथा तीन गुप्तियो का निरूपण।
२५	यज्ञीय	४३		जयघोष और विजयघोष का सवाद।
२६.	सामाचारी	५२		सघीय जीवन की पद्धति।
२७.	खलुंकीय	१७		अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण।
२८	मोक्ष-मार्ग-गति	३६		मोक्ष के मार्गों का निरूपण।
२९.	सम्यक्त्व-पराक्रम		७३	साधना-मार्ग का निरूपण।
३०.	तपो-मार्ग-गति	३७		तपो-मार्ग के प्रकारों का निरूपण।
३१.	चरण-विधि	२१		चरण-विधि का निरूपण।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन-सम्बन्धी विशेप जानकारी के लिए निम्न ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं —

१. दसवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका।

२. दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन।

३. उत्तराध्ययन . एक समीक्षात्मक अध्ययन।

प्रस्तुत ग्रन्थ दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का हिन्दी सस्करण है। जो व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से आगमो का अनुशीलन करना चाहते है, उनके लिए यह सस्करण बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा, इसी आशा के साथ।

आचार्य तुलसी

अणुव्रत विहार
२१०, राउज एवेन्यू,
नई दिल्ली

विषय-वस्तु

दशवैकालिक

पहला अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

१. धर्म उत्कृष्ट मगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

२. जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोडा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नही करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है—

३. उसी प्रकार लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण साधु हैं वे दान-भक्त—दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार—की एषणा में रत रहते हैं जैसे—भ्रमर पुष्पों में।

४. हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा—प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उप-हनन न हो। क्योंकि श्रमण यथाकृत (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पो से रस।

५. जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिंड में रत है, और जो दान्त हैं, वे अपने इन्ही गुणो से साधु कहलाते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दूसरा अध्ययन

श्रामण्यपूर्वक

१. वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो सकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषाद-ग्रस्त होता है ?

२. जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री और शयन-आसनो का उपभोग नही करता वह त्यागी नही कहलाता।

३. त्यागी वही कहलाता है जो कान्त (रमणीय) और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है।

४. समदृष्टि पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् मन (सयम से) बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नही है और न मैं ही उसका हूँ" मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे।

५. अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर। काम (विषय-वासना) का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप अतिक्रात होगा। द्वेष-भाव को छिन्न कर। राग-भाव को दूर कर। ऐसा करने से तू ससार (इहलोक और परलोक) मे सुखी होगा।

६. अगधन कुल मे उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमकेतु—अग्नि—में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किये हुए विष को वापस पीने की इच्छा नही करते।

७. हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे। जो तू क्षणभगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

८. मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ और तू अधकवृष्णि का पुत्र (रथनेमि) है। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों। तू स्थिर मन होकर संयम का पालन कर।

९. यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा।

१०. संयमिनी (राजीमती) के इन सुभाषित वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गये, जैसे अंकुश से हाथी स्थिर होता है।

११. सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं। वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तीसरा अध्ययन

क्षुल्लिकाचार-कथा

१. जो संयम में सुस्थितात्मा हैं, विप्रमुक्त हैं, त्राता हैं,—उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण है (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं अकरणीय) हैं।

२. औद्देशिक—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, क्रीतकृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया, नित्याग्र—आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जानेवाला, अभिहृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना। रात्रि-भक्त—रात्रि भोजन करना। स्नान—नहाना। गंध—गंध सूंघना या गंध द्रव्य का विलेपन करना। माल्य—माला पहनना। वीजन—पंखा झलना।

३. सन्निधि—खाद्य वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना। गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना। राज-पिंड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना। किमिच्छक—कौन क्या चाहता है ? यो पूछकर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना। संबाधन—अंग-मर्दन करना। दंत-प्रधावन—दांत पखारना। संप्रच्छन—गृहस्थ को कुशल पूछना (संप्रोञ्छन—शरीर के अवयवों को पोछना)। देह-प्रलोकन—दर्पण आदि में शरीर देखना।

४. अष्टापद—शतरंज खेलना। नालिका—नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना। छत्र—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना। चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना। उपानत—पैरो में जूते पहनना। ज्योति-समारम्भ—अग्नि जलाना।

५. शय्यातरपिण्ड—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना। आसंदी—मञ्चिका, पर्यंक—पलंग पर बैठना। गृहान्तर-निषद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर मे बैठना। गात्र-उद्वर्तन—उबटन करना।

६. गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना। आजीव-वृत्तिता—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना। तप्तानिर्वृत-भोजित्व—अर्द्ध-पक्व सजीव वस्तु का उप–

भोग करना। आतुर-स्मरण—आतुर[1]-दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना।

७. अनिर्वृत मूलक—सजीव मूली, अनिर्वृत श्रृंगबेर—सजीव अदरक, अनिर्वृत इक्षुखण्ड--सजीव इक्षु-खण्ड, सचित्त कंद—सजीव कंद, सचित्त मूल—सजीव मूल, आमक फल—अपक्व फल और आमक बीज—अपक्व बीज लेना व खाना।

८. आमक सौवर्चल—अपक्व सौवर्चल नमक, सैन्धव—अपक्व सैन्धव नमक, रुमा लवण—अपक्व रुमा नमक[2], सामुद्र—अपक्व समुद्र का नमक, पांशु-क्षार—अपक्व ऊषर-भूमि का नमक और काल लवण—अपक्व कृष्ण-नमक—लेना व खाना।

९. धूम-नेत्र—धूम्र-पान की नलिका रखना। वमन—रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाये रखने के लिए वमन करना। वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तेल आदि चढ़ाना और विरेचन करना। अंजन—आंखों मे अंजन आंजना। दतवण—दांतो को दतौन से घिसना। गात्र-अभ्यंग—शरीर के तैल-मर्दन करना। विभूषण—शरीर को अलंकृत करना।

१०. जो संयम में लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी महर्षि निर्ग्रन्थ हैं उनके लिए ये सब अनाचीर्ण है।

११. पाँच आश्रवो का निरोध करनेवाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, छह प्रकार के जीवो के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, धीर निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते है।

१२. सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते है, और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान मे रहते हैं।

१३. परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत-मोह (अज्ञान को प्रकंपित करने वाले) जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के नाश के लिए पराक्रम करते हैं।

१४. दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते है और कई नीरज (कर्म रहित) हो सिद्ध होते हैं।

१५. स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षयकर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर परिनिर्वृत—मुक्त होते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. काम, क्षुधा, भय आदि से पीड़ित।

२. एक प्रकार का खनिज नमक।

चौथा अध्ययन

षड्जीवनिका

१. आयुष्मन्! मैंने सुना है उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिये श्रेय है।

२. वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है?

३. वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात आर सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्-कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

४. शस्त्र-परिणति से पूर्व पृथ्वी चित्तवती (सजीव) कही गयी है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है।

५. शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

६. शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

७. शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्तवान् (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है।

८. शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज, मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्च्छिम, तृण और लता।

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त (मूल से लेकर बीज तक) वनस्पति-कायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव

के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले हैं।

९. और ये जो अनेक बहुत त्रस प्राणी हैं, जैसे—अण्डज,[1] पोतज,[2] जरायुज,[3] रसज,[4] संस्वेदज,[5] सम्मूर्च्छनज,[6] उद्भिज[7] और औपपातिक[8]—वे छठे जीव-निकाय मे आते है।

जिन किन्ही प्राणियो मे सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एव गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस हैं।

जो कीट, पतग, कुथु, पिपीलिका, सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक है—

यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है।

१०. इन छह जीव-निकायो के प्रति स्वय दड-समारम्भ[9] नही करना चाहिए, दूसरो से दण्ड-समारम्भ नही कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन नही करना चाहिये, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

---

१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि।
२. पोतज—जो शिशु रूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता—हाथी आदि।
३ जरायुज—जन्म के समय जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं—गाय, भैंस, मनुष्य आदि।
४. रसज—छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले जीव।
५. संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव।
६. सम्मूर्च्छनज—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी आदि। यह मातृ-पितृहीन प्रजनन है।
७. उद्भिज—पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले पतंग, खंजरीट आदि।
८. औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाले देवता और नारकीय जीव।
९ दंड का अर्थ है—मन, वचन और काया की दुःख-जनक या परिताप-जनक प्रवृत्ति और समारम्भ का अर्थ है—करना।

भंते ! मैं अतीत मे किये दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा[1] करता हूँ, गर्हा[2] करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

११. भंते ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण होता है।

भंते! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं उनके प्राणो का अतिपात मैं स्वय नही करूँगा दूसरो से नही कराऊँगा और अतिपात करने वालो का अनुमोदन भी नही करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भंते ! मैं अतीत में किये प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पहले महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ। इसमे सर्व प्राणातिपात की विरति होती है।

१२. भंते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत मे मृषावाद की विरति होती है।

भंते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से, भय से या हँसी से, मैं स्वय असत्य नही बोलूँगा, दूसरो से असत्य नही बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालो का अनुमोदन भी नही करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं दूसरे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व मृषावाद की विरति होती है।

१३. भंते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है।

भंते ! मै सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव मे, नगर में, या अरण्य मे— कही भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त-वस्तु का मै स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरो से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नही

१. निन्दा—अपने आप किया जाने वाला आत्मालोचन।

२. गर्हा—दूसरों के समक्ष किया जानेवाला आत्मालोचन।

करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व अदत्तादान की विरति होती है।

१४. भंते ! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत मे मैथुन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वय सेवन नहीं करूंगा, दूसरो से मैथुन सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं चौथे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व मैथुन की विरति होती है।

१५. भंते ! इसके पश्चात् पाँचवे महाव्रत में परिग्रह की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाव में, नगर में, या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरो से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सर्व परिग्रह की विरति होती है।

१६. भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन की विरति होती है।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन,

पान, खाद्य और स्वाद्य—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरो को नही खिलाऊँगा और खाने वालो का अनुमोदन भी नही करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भंते! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! मैं छठे व्रत मे उपस्थित हुआ हूं। इसमें सर्व रात्रिभोजन की विरति होती है।

१७. मैं इन पाँच महाव्रतो और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए अगीकार कर विहार करता हूँ।

१८. सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् मे—पृथ्वी, भित्ति (नदी, पर्वत आदि की दरार) शिला, ढ़ेले, सचित्त-रज से ससृष्ट काय अथवा सचित्त-रज से संसृष्ट वस्त्र या हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच, अँगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह से न आलेखन करे, न विलेखन करे, न घट्टन करे और न भेदन करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए। आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूंगा।

भंते! मै अतीत के पृथ्वी समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

१९ सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् में—उदक, ओस, हिम, धूंअर, ओले, भूमि को भेद कर निकले हुए जल बिन्दु, शुद्ध उदक, (आन्तरिक्ष जल) जल से भीगे शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न सस्पर्श करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे, न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे, न आतापन करे और न प्रतापन करे, दूसरो से न आमर्श कराये, न सस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीडन कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए, न प्रतापन कराए। आमर्श, सस्पर्श, आपीड़न, प्रपीड़न, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन

करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२०. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात मे, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् में—अग्नि, अंगारे, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, (अधजली लकडी) शुद्ध (काष्ठ रहित) अग्नि, अथवा उल्का का न उत्सेचन करे, न घट्टन करे, न उज्ज्वालन करे और न निर्वाण करे (न बुझाए), न दूसरो से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए। उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भन्ते ! मै अतीत के अग्नि-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२१. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् मे—चामर, पंखे, वीजन, पत्र, शाखा, शाखा के टुकडे, मोर-पख, मोर-पिच्छी, वस्त्र, वस्त्र के पल्ले हाथ या मुँह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को फूंक न दे, हवा न करे, दूसरों से फूंक न दिराए हवा न कराए; फूंक देने वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भंते ! मै अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२२. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते एकांत में या परिषद् मे—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, स्फुटित बीजो पर, स्फुटित बीजो पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर स्थित वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगो पर, छिन्न वनस्पति के अंगो पर रखी हुई वस्तुओ पर,

सचित्त कोल—अडों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर न चले, न खडा रहे, न बैठे, न सोये; दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए; चलने, खडा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भते ! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२३. सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् में—कीट, पतंग, कुथु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, गोच्छग, उन्दक (स्थंडिल), दण्डक, पीठ, फलक, शय्या या सस्तारक पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर चढ जाए तो सावधानी पूर्वक धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर उन्हे वहाँ से हटा एकान्त में रख दे किन्तु उनका सघात न करे—आपस मे एक दूसरे प्राणी को पीडा पहुँचे वैसे न रखे।

१. अयतनापूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

२. अयतनापूर्वक खडे होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३. अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४. अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

५. अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६. अयतनापूर्वक बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

७. कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो।

८. यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतना-

पूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला-पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता।

९. जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, सब जीवो को सम्यक्‌दृष्टि से देखता है, जो आश्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता।

१०. पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप ?

११. जीव सुनकर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२. जो जीवो को भी नही जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला सयम को कैसे जानेगा ?

१३. जो जीवो को भी जानता है, अजीवो को भी जानता है, वह जीव और अजीव दोनो को जानने वाला ही सयम को जान सकेगा।

१४. जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनो को जान लेता है तब वह सब जीवो की बहुविध गतियों को भी जान लेता है।

१५. जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है।

१६. जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवो और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है।

१७ जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य सयोगो को त्याग देता है।

१८. जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य सयोगो को त्याग देता है तब वह मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है।

१९. जब मनुष्य मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

२०. जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है।

२१. जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

२२. जब वह सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।

२३. जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है।

२४. जब वह योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है।

२५. जब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

२६. जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल मे सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ होती है।

२७. जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति, शान्ति तथा सयम मे रत और परिषहो को जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ होती है।

[जिन्हे तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते है—भले ही वे पिछली अवस्था मे प्रव्रजित हुए हो।]

२८. दुर्लभ श्रमण-भाव को प्राप्त कर सम्यक्-दृष्टि और सतत-सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा—मन, वचन और काया से—विराधना न करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा

(पहला उद्देशक)

१. भिक्षा का काल प्राप्त होने पर मुनि अनाकुल और अमूर्च्छित रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले क्रम-योग से भक्त-पान की गवेषणा करे।

२. गाँव या नगर में गोचराग्र[1] के लिए निकला हुआ वह मुनि अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त चित्त से धीमे-धीमे चले।

३. आगे युग-प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले।

४. दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे, ऊबड-खाबड भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड या अनाज के डंठल और पंकिल मार्ग को टाले तथा संक्रम[2] के ऊपर से न जाए।

५. वहाँ गिरने या लडखडा जाने से वह संयमी प्राणी, भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है।

६. इसलिए सुसमाहित संयमी दूसरे मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाए।

७. संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर होकर न जाए।

८. वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में तिर्यक् संपातिम[3] जीव छा रहे हों तो भिक्षा के लिए न जाए।

९. ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मुनि वेश्या-बाडे के समीप न जाये।

---

१. विशुद्ध भिक्षाचर्या।

२. जल या गढ़े को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल।

३. जो जीव तिरछे उड़ते है उन्हें तिर्यक् संपातिम जीव कहते हैं। जैसे—पतंग आदि।

वहाँ दमितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है।

१०. *अस्थान में बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के* कारण व्रतों का विनाश और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है।

११. इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त—मोक्ष-मार्ग—का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-वाड़े के समीप न जाए।

१२. मुनि श्वान, ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल, कलह और युद्ध (के स्थान) को दूर से टाल कर जाए।

१३. मुनि न ऊंचा मुँह कर, न झुककर, न हृष्ट होकर, न आकुल होकर किन्तु इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के अनुसार दमन कर चले।

१४. उच्च-नीच कुल में गोचरी गया हुआ मुनि दौडता हुआ न चले, बोलता और हँसता हुआ न चले।

१५. मुनि चलते समय आलोक[1], थिग्गल[2], द्वार, संधि[3], पानी-घर को न देखे। शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से बचता रहे।

१६. राजा, गृहपति, अन्तःपुर और आरक्षिकों के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहाँ जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो।

१७. मुनि निंदित कुल में प्रवेश न करे। मामक—गृह-स्वामी द्वारा निषिद्ध कुल का परिवर्जन करे। अप्रीतिकर कुल में प्रवेश न करे। प्रीतिकर कुल में प्रवेश करे।

१८. मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना सन[4] और मृग-रोम के बने वस्त्र से ढँका द्वार स्वयं न खोले, कपाट न खोले।

१९. गोचराग्र के लिए उद्यत मुनि मल-मूत्र की बाधा को न रखे। (गोचरी करते समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो) प्रासुक (निर्जीव) स्थान देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहाँ मल-मूत्र का उत्सर्ग करे।

२०. जहाँ चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले तमःपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे।

---

१. घर का वह स्थान जहाँ से बाहरी प्रदेश देखा जा सके। जैसे—गवाक्ष, झरोखा, खिड़की आदि।

२. फिर से चिना हुआ द्वार।

३. दो घरों के बीच की गली, सेंध।

४. सन की छाल या अलसी का वस्त्र।

२१. जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाए। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२. मुनि भेड, बच्चे, कुत्ते और बछडे को लाँघ कर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे।

२३. मुनि अनासक्त दृष्टि से देखे। अति दूर न देखे। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाए।

२४. गोचराग्र के लिए घरों में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि[1] में न जाए, कुल-भूमि[2] को जानकर मित-भूमि[3] मे प्रवेश करे।

२५. विचक्षण मुनि मित-भूमि में ही उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का परिवर्जन करे।

२६. सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि उदक और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीज और हरियाली को वर्ज कर खड़ा रहे।

२७. वहाँ खडे हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८. यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

२९. प्राणी, बीज और हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असयमकरी होती है—यह जान मुनि उसके पास से भक्त-पान न ले।

३०. एक बर्तन मे से दूसरे बर्तन में निकाल कर, सचित्त वस्तु पर रख कर, सचित्त को हिला कर, इसी तरह श्रमण के लिए पात्रस्थ सचित्त जल को हिला कर—

३१. जल में अवगाहन कर, आँगन मे ढुले हुए जल को चालित कर आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

---

१. वर्जित स्थान।
२. कुल का मर्यादित स्थान।
३. अवर्जित स्थान।

३२. पुराकर्म[१]-कृत हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

३३. इसी प्रकार जल से आर्द्र[२], सस्निग्ध[३], सचित्त रज-कण, मृत्तिका, क्षार, हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक—

३४. गैरिक[४], वर्णिक[५], श्वेतिका[६], सौराष्ट्रिका[७], तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके और फल के सूक्ष्म खण्ड से सने हुए (हाथ, कडछी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिए।

३५. जहाँ पश्चात् कर्म[८] का प्रसग हो वहाँ असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कडछी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले।

३६. संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कडछी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि ले ले।

३७. दो स्वामी या भोक्ता हों और वहाँ एक निमन्त्रित करे (देना चाहे) तो मुनि वह दिया जाने वाला आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले।

३८. दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करे तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो, ले ले।

३९. गर्भवती स्त्री के लिए बना हुआ विविध प्रकार का भक्त पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे; खाने के बाद बचा हो वह ले ले।

---

१. भिक्षा देने से पूर्व उसके निमित्त से हाथ, कड़छी आदि सचित्त पानी से धोना या अन्य किसी प्रकार की हिंसा करना।

२. जिससे जल की बूंदें टपक रही हों।

३. जल से गीला-सा।

४. लाल मिट्टी।

५. पीली मिट्टी।

६. खड़िया मिट्टी।

७. गोपीचन्दन। स्वर्ण पर चमक देने के लिए प्रयुक्त मिट्टी।

८. भिक्षा देने के पश्चात् खरडे हुए हाथ, कड़छी आदि को सचित्त जल से धोना या अन्य किसी प्रकार की हिंसा करना।

४०. काल-मासवती[1] गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो—

४१. उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य (अग्राह्य) होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४२. बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़ भक्त-पान लाए—

४३. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४४. जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंकायुक्त हो, उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४५. जल-कुंभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढँके, लिपे और मूँदे हुए)—

४६. पात्र का श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४७. यह अशन, पानक[2], खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

४८. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है; इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४९. यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ[3] तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

५०. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५१. यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों—के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो—

---

१. जिसके गर्भ का प्रसूतिमास या नवाँ मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल-प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है।
२. द्राक्षा, खर्जूर आदि से निष्पन्न जल।
३. 'पुण्य होगा' इस भावना से निष्पन्न भक्त-पान।

५२. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

५३. यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणो के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो —

५४. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे— इस प्रकार का आहार मै नही ले सकता।

५५. औद्देशिक[१], क्रीतकृत[२], पूतिकर्म[३], आहृत[४], अध्यवतर[५], प्रामित्य[६] और मिश्रजात[७] आहार मुनि न ले।

५६. संयमी मुनि आहार का उद्गम पूछे— किसलिए किया है ? किसने किया है ?—इस प्रकार पूछे। दाता से प्रश्न का उत्तर सुनकर नि:शंकित और शुद्ध आहार ले।

५७. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र (मिला हुआ) हो तो—

५८. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मै नही ले सकता।

५९. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पानी, उत्तिंग[८] और पनक[९] पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो तो—

६०. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे - इस प्रकार का आहार मै नही ले सकता।

६१. यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर दे तो—

---

१. देखें—३/२
२. देखें—३/२
३. आधाकर्म— मुनि के निमित्त बने हुए आहार से मिश्रित।
४. देखें—३/२
५. भोजन पकाने का आरम्भ अपने लिए करने के पश्चात् निर्ग्रन्थ के लिए अधिक बनाना।
६. निर्ग्रन्थ को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना।
७. अपने लिए या साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाना।
८. कीटिकानगर।
९. फफूंदी।

६२. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे --इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

६३. इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डाल कर, (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर, (चूल्हे को) सुलगा कर, प्रदीप्त कर, बुझा कर, अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, पानी का छींटा देकर, पात्र को टेढा कर, उतार कर, दे तो—

६४. वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

६५. यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण के लिए रखे हुए हो और वे चलाचल हो तो --

६६. सर्वेन्द्रिय समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असयम देखा है।

६७. श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक और पीढ़े को ऊँचा कर, मचान[1], स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)।

६८. निसैनी आदि द्वारा चढती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ, पैर टूट सकते है। उसके गिरने से नीचे दब कर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवो की विराधना हो सकती है।

६९. अत: ऐसे महादोषो को जानकर सयमी महर्षि मालापहृत[2] भिक्षा नही लेते।

७०. मुनि अपक्व कद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया अदरक न ले।

---

१. चार लट्ठों को बाँधकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान, जहाँ सीलन तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए भोजन रखे जाते हैं।

२. यह उद्गम का तेहरवाँ दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—
   (१) ऊर्ध्व मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ।
   (२) अधोमालापहृत—भूमिगृह (तलघर) से लाया हुआ।
   (३) तिर्यग् मालापहृत—ऊँडे बर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ।

७१. इसी प्रकार सत्तू, बेर का गुड़, तिल-पपड़ी, गीला गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी—

७२. जो बेचने के लिए दुकान मे रखी हों, परन्तु न बिकी हो, रज से स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

७३. बहुत अस्थि वाले पुद्गल[1] बहुत काँटे वाले अनिमिष[2], आस्थिक[3], तेन्दू[4] और बेल के फल, गण्डेरी और फली—

७४. जिनमें खाने का भाग थोडा हो और डालना अधिक पडे—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मै नही ले सकता।

७५. इसी प्रकार उच्चावच पानी या गुड के घडे का धोवन, आटे का धोवन, चावल का धोवन, जो अधुनाधौत (तत्काल का धोवन) हो, उसे मुनि न ले।

७६. अपनी मति या दर्शन से, पूछ कर या सुन कर जान ले—यह धोवन चिरकाल का है, और निःशकित हो जाए—

७७. तो उसे जीव-रहित और परिणत जानकर सयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नही—ऐसा सन्देह हो तो चख कर लेने का निश्चय करे।

७८. दाता से कहे—'चखने के लिए थोडा-सा जल मेरे हाथ मे दो। बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने मे असमर्थ जल लेकर मै क्या करूँगा?'

७९. यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मै नही ले सकता।

८०. यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वय पीए और न दूसरे साधुओ को दे।

८१. परन्तु एकान्त मे जा, अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे

---

१. बहुत बीजों वाला फल।
२. बहुत कांटों वाला फल।
३. आस्थिक वृक्ष का फल।
४. तेन्दू वृक्ष का फल। इस वृक्ष की लकड़ी को आबनूस कहते हैं।

परिस्थापित[1] करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान मे आ कर प्रतिक्रमण[2] करे।

८२. गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल[3] को देखकर—

८३. उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर छाए हुए एवं संवृत[4] स्थल में बैठे, हस्तक[5] से शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी संयति वहाँ भोजन करे।

८४. वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ का टुकडा, ककड या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो —

८५. उसे उठा कर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ में ले कर एकान्त में चला जाए।

८६. एकान्त मे जा, अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान मे आ कर प्रतिक्रमण करे।

८७. कदाचित् भिक्षु शय्या (उपाश्रय) मे आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे।

८८. उसके पश्चात् विनयपूर्वक उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो, 'ईर्यापथिकी' सूत्र को पढकर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

८९. आने-जाने और भक्त-पान लेने मे लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर—

९०. ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१. सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भग हुआ हो) तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

---

१. अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाने पर एकान्त और निर्जीव भूमि में उसका परित्याग।
२. जान-अनजान में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रायश्चित्त।
३. दो घरों का मध्यवर्ती भाग, कुटीर या भीत।
४. पार्श्व भाग से ढँका हुआ।
५. वस्त्र-खण्ड।

६२. ओह ! भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य-वृत्ति[1] का उपदेश किया है।

६३. इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के द्वारा पूर्ण कर तीर्थङ्करों की स्तुति करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारंभ) करे, फिर क्षण-भर विश्राम करे।

६४. विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूं कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया।

६५. वह प्रेमपूर्वक साधुओ को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओ मे से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

६६. यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही खुले पात्र मे यतनापूर्वक नीचे नही डालता हुआ भोजन करे।

६७. गृहस्थ के लिए बना हुआ—तीता (तिक्त) या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो उसे सयमी मुनि मधु-घृत की भाँति खाए।

६८. मुधाजीवी (निष्काम जीवी) मुनि अरस या विरस, व्यंजन सहित या व्यजन रहित, आर्द्र या शुष्क, मन्थु[2] और कुल्माष[3] का जो भोजन—

६९. विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है। इसलिए उस मुधालब्ध (निष्काम प्राप्त) और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले।

१००. मुधादायी (निष्काम दाता) दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनो सुगति को प्राप्त होते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. विशुद्ध जीवनचर्या।

२. बेर आदि का चूर्ण।

३. अधपके जौ, मूंग आदि।

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा

(दूसरा उद्देशक)

१. संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त।

२. उपाश्रय या स्वाध्याय-भूमि में अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि (मठ, कोठे आदि में) अपर्याप्त खा कर यदि न रह सके तो—

३. क्षुधा आदि का कारण उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।

४. भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्ज कर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

५. भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो। काल की प्रतिलेखना नहीं करते इसीलिए तुम अपने-आप को क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।

६. भिक्षु समय होने पर भिक्षा के लिए जाए, पुरुषकार (श्रम) करे, भिक्षा न मिलने पर शोक न करे। सहज तप ही सही—यों मान भूख को सहन करे।

७. इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी, जीव आदि भोजन के निमित्त एकत्रित हो, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए।

८. गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे और खड़ा रहकर भी कथा का प्रबन्ध न करे—विस्तार न करे।

९. गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ[1], द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।

१०-११. भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण[2] या वनीपक को लाँघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जा कर खड़ा हो जाए।

---

१. नगर-द्वार की आगल।

२. पिण्डोलग। परदत्त आहार से जीवन निर्वाह करने वाला।

१२. भिक्षाचरों को लांघ कर घर में प्रवेश करने पर वनीपक या गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन (धर्मशासन) की लघुता होती है।

१३. गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि भक्त-पान के लिए प्रवेश करे।

१४. कोई उत्पल,[1] पद्म,[2] कुमुद,[3] मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे—

१५. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६. कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचलकर भिक्षा दे—

१७. वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१८. कमलकन्द[4], पलाशकन्द[5], कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[6], सरसों की नाल, अपक्व-गंडेरी न ले।

१९. वृक्ष, तृण या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले।

२०. कच्ची और एक बार भूनी हुई फली देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२१. इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश-करीर[7], काश्यप-नालिका[8] तथा अपक्व तिल-पपड़ी और कदम्ब-फल न ले।

२२. इसी प्रकार चावल का पिष्ट, पूरा न उबला हुआ गर्म जल, तिल का पिष्ट, पोई साग और सरसों की खली—अपक्व न ले।

---

१. लाल कमल।

२. नील कमल।

३. श्वेत कमल।

४. कमल की जड़।

५. विदारिका, जीवन्ती।

६. यह पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है। इसका आकार हाथी-दाँत जैसा होता है।

७. बाँस का अंकुर।

८. श्रीपर्णी फल, कसारू।

२३. अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ, बिजौरा, मूला और मूले के गोल टुकड़े को मन कर भी न चाहे।

२४. इसी प्रकार अपक्व फलचूर्ण, बीजचूर्ण, बहेडा और प्रियाल-फल[1] न ले।

२५. भिक्षु सदा समुदान भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाए, नीच कुल को छोडकर उच्च कुल में न जाए।

२६. भोजन मे अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत, पण्डित मुनि अदीन-भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे और भिक्षा न मिलने पर विषाद न करे।

२७. गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का प्रचुर खाद्य, स्वाद्य होता है, किन्तु न देने पर पडित मुनि कोप न करे। क्योकि उसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे।

२८. शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान यद्यपि सामने दीख रहे है किन्तु गृहस्थ उन्हे नही देना चाहता तो भी संयमी मुनि न देने वाले पर कोप न करे।

२९. मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे और न उसे परुष वचन बोले।

३० जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए। इस प्रकार भिक्षा का अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध-भाव मे टिकता है।

३१. कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पा कर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वय ले न ले, इस लोभ से छिपा लेता है—

३२ अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला वह रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है, जिस किसी वस्तु से सन्तुष्ट नही होता और निर्वाण को नही पाता।

३३. कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कही एकान्त मे बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है—

३४. 'ये श्रमण मुझे यों जाने कि यह मुनि बडा मोक्षार्थी है, सन्तुष्ट है,

---

१. चिरौंजी।

प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है।'

३५. वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य[1] का आचरण करता है।

३६. अपने संयम का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक[2] या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए।

३७. जो मुनि—मुझे कोई नही जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषो को देखो; उसके मायाचरण को मुझसे सुनो।

३८. उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढ़ते हैं।

३९. वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है। मद्यप-मुनि मरणान्त-काल में भी सवर[3] की आराधना नहीं कर पाता।

४०. वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणो की भी। गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते है; इसलिए उसकी गर्हा करते है।

४१. इस प्रकार अगुणो की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणो को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना नही कर पाता।

४२. जो मेधावी तपस्वी तप करता है, प्रणीत-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद से विरत होता है, गर्व नही करता—

४३. उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशसित, विपुल और अर्थ-संयुक्त कल्याण को स्वयं देखो और मैं उसकी कीर्तना करूंगा वह सुनो।

४४. इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणों को वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्त-काल में भी सवर की आराधना करता है।

४५. वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणो की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं।

---

१. शल्य का अर्थ है—सूक्ष्म कांटा। माया, निदान और मिथ्या दर्शन—ये तीन शल्य हैं। ये तीनों सतत चुभने वाले पाप कर्म हैं।

२. एक प्रकार की मदिरा।

३. संयम, प्रत्याख्यान।

४६. जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह किल्विषिक[1]-देव-योग्य कर्म करता है।

४७. किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है।'

४८. वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एड़मूकता (गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को पायेगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है।

४९. इस दोष को देख कर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी मायामृषा न करे।

५०. संयत और बुद्ध (तत्वज्ञ) श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीख कर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम और गुण से सम्पन्न हो कर विचरे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. किल्विषिक अधम जाति के देव होते हैं।

छठा अध्ययन

महाचार कथा

१. ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, सयम और तप मे रत, आगम-सम्पदा से युक्त गणी को उद्यान में समवसृत देख---

२. राजा और उनके अमात्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हे नम्रतापूर्वक पूछते है---आपके आचार का विषय कैसा है ?

३. ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियो के लिए सुखावह, शिक्षा मे समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हे बताते हैं---

४. मोक्ष चाहने वाले[1] निर्ग्रन्थो के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझसे सुनो।

५. संसार मे इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कही नही कहा गया है। मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत मे न कही था और न कही भविष्य में होगा।

६. बाल, वृद्ध, अस्वस्थ या स्वस्थ---सभी मुमुक्षुओ को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित[2] रूप से करनी चाहिए, उन्हे यथार्थ रूप से सुनो।

---

१. धम्मत्थकाम---धर्म का अर्थ---प्रयोजन है--- मोक्ष। उसकी कामना करने वाले अर्थात् मोक्ष चाहने वाले।

२. आंशिक विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है।

७. आचार के अठारह स्थान हैं।[1] जो अज्ञ उनमें से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह संयम से च्युत हो जाता है।

८. महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्म रूप से देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

९. लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराए।

१०. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

११. निर्ग्रन्थ अपने या दूसरो के लिए, क्रोध से या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले, न दूसरो से बुलवाए।

१२. इस समूचे लोक में मृषा-वाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

१३. संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना—

१४ स्वयं ग्रहण नही करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नही करता।

१५. अब्रह्मचर्य लोक मे घोर, प्रमाद-जनक और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है। चरित्र-भङ्ग के स्थान से बचने वाले मुनि उसका आसेवन नहीं करते।

१६. यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं।

१७. जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिड-लवण[2], सामुद्र-लवण, तैल, घी और द्रव-गुड़ का संग्रह करने की इच्छा नहीं करते।

---

१. १-६. छह व्रत—
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रिभोजन-वर्जन।
७-१२. छह काय—पृथ्वीकाय-संयम, अप्काय-संयम, तेजस्काय-संयम, वायुकाय-संयम, वनस्पतिकाय-संयम और त्रसकाय-संयम।
१३. अकल्प-वर्जन, १४. गृहि-भाजन-वर्जन, १५. पर्यंक-वर्जन, १६. गृहान्तर निषद्या-वर्जन, १७. स्नान-वर्जन, १८. विभूषा-वर्जन।

२. कृत्रिम लवण।

१८. जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है—ऐसा मैं मानता हूँ। जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है।

१९. जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं।

२०. सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने कहा है।

२१. सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थंकर उपधि (एक दूष्य—वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक-बुद्ध[1], जिनकल्पिक[2] आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण, मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२. अहो! सभी तीर्थंकरों ने श्रमणों के लिए संयम के अनुकूल वृत्ति और देह-पालन के लिए एक बार भोजन (या राग-द्वेष रहित होकर भोजन करना)—इस नित्य तपःकर्म का उपदेश दिया है।

२३. जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी है, उन्हे रात्रि मे नही देखता हुआ निर्ग्रन्थ एषणा कैसे कर सकता है?

२४. उदक से आर्द्र और बीज युक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हे दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नही—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है?

२५. ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—"जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नही करते, चारो प्रकार के आहार मे से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।"

२६. सुसमाहित सयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एव अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

२७. पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

२८. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ (हिंसा) का वर्जन करे।

---

१. किसी एक निमित्त से संबुद्ध होने वाले साधक।

२. साधना की विशिष्ट अवस्था।

२९. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते।

३०. अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा करता है।

३१. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ (हिंसा) का वर्जन करे।

३२. मुनि जाततेज[1] अग्नि जलाने की इच्छा नही करते। क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र और सब ओर से दुराश्रय (दुःसह्य) है।

३३. वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में भी दहन करती है।

३४. नि.सन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) जीवों के लिए आघात है। संयमी प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

३५. (अग्नि जीवो के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

३६. तीर्थंकर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य ही मानते हैं। यह प्रचुर सावद्य-बहुल (पाप-युक्त) है। यह छहकाय के त्राता मुनियो के द्वारा आसेवित नही है।

३७. इसलिए वे बीजन, पत्र, शाखा और पखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा करवाना नही चाहते।

३८. जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नही करते, किन्तु यतनापूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

३९. (वायु-समारम्भ सावद्य-बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४०. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नही करते।

४१. वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

---

१. उत्पन्न काल से ही तेजस्वी।

४२. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे।

४३. सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते।

४४. त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४५. इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४६. ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे।

४७. मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे।

४८. जो नित्याग्र[1], क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणी-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

४९. इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं।

५०. जो गृहस्थ के कांसे के प्याले, कांसे के पात्र और कुण्डमोद[2] में अशन, पान आदि खाता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

५१. बर्तनों को सचित्त जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थंकरों ने वहाँ असंयम देखा है।

५२. गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने में 'पश्चात् कर्म' और 'पुरःकर्म' की सम्भावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। इसलिए वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते।

५३. आर्यों (मुनियों) के लिए आसन्दी (मञ्चिका), पलंग, मञ्च (मचान) और आसालक (आराम कुर्सी) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है।

५४. तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित विधियों का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, निषद्या (आसन) और पीढ़े का (विशेष स्थिति में उपभोग करना पड़े तो) प्रतिलेखन किये बिना उन पर न बैठे और न सोए।

---

१. आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला।
२. कांसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन।

५५. आसन्दी आदि गम्भीर छिद्रवाले होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया गया है।

५६. भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है।

५७. गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश, प्राणियों का अवधकाल में वध, भिक्षाचरों के अंतराय और घरवालों को क्रोध उत्पन्न होता है—

५८. ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और स्त्री के प्रति शंका उत्पन्न होती है। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है, इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९. जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है।

६०. जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार का उल्लघंन होता है, उसका सयम परित्यक्त होता है।

६१. यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि और दरार-युक्त भूमि में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित कर देता है।

६२. इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से स्नान नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं।

६३. मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण, कल्क[1], लोध्र[2], पद्मकेसर[3] आदि का प्रयोग नही करते।

६४. नग्न, मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है?

६५. विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।

---

१. गन्ध-द्रव्य का आटा, विलेपन द्रव्य।

२. गन्ध-द्रव्य।

३. कुंकुम और केसर; विशेष सुगन्धित द्रव्य।

६६. विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थंकर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर सावद्य-बहुल (पाप-युक्त) है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नही है।

६७. अमोहदर्शी, तप-सयम और ऋजुतारूप गुण में रत मुनि शरीर को कृश कर देते है। पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नये पाप नहीं करते।

६८. सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिञ्चन, आत्म-विद्यायुक्त यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह मल रहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतसक आदि विमानों को प्राप्त करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सातवाँ अध्ययन

वाक्यशुद्धि

१. प्रज्ञावान् मुनि चारो भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग) सीखे और दो सर्वथा न बोले।

२ जो अवक्तव्य-सत्य, सत्यमृषा (मिश्र), मृषा और असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा बुद्धो के द्वारा अनाचीर्ण हो, उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले।

३ प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा (व्यवहार-भाषा) और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले।

४ वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी न बोले जो अपने आशय को यह अर्थ है या दूसरा—इस प्रकार सदिग्ध बना देती हो।

५ जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुषवेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले ?

६ इसलिए —'हम जाएँगे',' कहेगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा' 'मै यह करूँगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—

७. यह और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शकित हो अथवा वर्तमान और अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ के बारे मे शकित हो, उसे भी धीरपुरुष न बोले।

८. अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी जिस अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे।

९. अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ में शका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे।

१०. अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे।

११. इसी प्रकार परुष और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य-भाषा भी न बोले। क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है।

१२. इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे।

१३. आचार (वचन-नियमन) सम्बन्धी भाव-दोष (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला प्रज्ञावान् पुरुष पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी कोटि की दूसरी भाषा, जिससे दूसरे को चोट लगे—न बोले।

१४. इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,[1]—ऐसा न बोले।

१५. हे आर्यिके ! (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके ! (हे परदादी ! हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !—

१६. हे हले ![2], हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे।

१७. किन्तु प्रयोजनवश यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

१८. हे आर्यक ! (हे दादा !, हे नाना), हे प्रार्यक ! (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा!, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता !—

१६. हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !— इस प्रकार पुरुष को आमन्त्रित न करे।

२०. किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे।

२१. पंचेन्द्रिय प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

२२. इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को (देख यह) स्थूल, प्रमेदुर वध्य (या वाह्य) अथवा पाक्य है, ऐसा न कहे।

---

१. ये सब अवज्ञा-सूचक आमन्त्रण शब्द हैं—होल—निष्ठुर आमंत्रण। गोल—जारपुत्र। वृषल—शूद्र। द्रमक—रंग। दुर्भग—भाग्यहीन।

२. महाराष्ट्र में 'हले' और 'अन्ने' ये तरुण स्त्री के लिए सम्बोधन शब्द हैं। लाटदेश में उसके लिए, 'हला' शब्द का प्रयोग होता था। 'भट्टे'—पुत्र-रहित स्त्री के लिए। 'सामिणी' 'गोमणी'—सम्मान सूचक सम्बोधन शब्द। 'होले' 'गोल' और 'वसुले'—गोल देश में प्रयुक्त प्रिय-आमंत्रण वचन

२३. (प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध कहा जा सकता है, उपचित कहा जा सकता है अथवा संजात (युवा), प्रीणित (आहार आदि से तृप्त) और महाकाय कहा जा सकता है।

२४. इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य है, वहन करने योग्य है और रथ-योग्य है—इस प्रकार न बोले।

२५. (प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है, धेनु दूध देने वाली है, बैल छोटा है, बडा है अथवा सवहन—धुरा को वहन करने वाला है—यों कहा जा सकता है।

२६. इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बडे वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे--

२७. (ये वृक्ष) प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगर-द्वार), घर, परिघ[1], अर्गला[2], नौका और जल की कुंडी के लिए उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं।

२८. (ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री, हल, मयिक[3], कोल्हू, नाभि (पहिये का मध्य भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त है।

२९. (इन वृक्षों में) आसन, शयन, यान और उपाश्रय के उपयुक्त कुछ (काष्ठ) है—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान् भिक्षु न बोले।

३० इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बडे वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान भिक्षु यों कहे—

३१ ये वृक्ष उत्तम जाति के है, गोल है, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध युक्त) है, शाखा वाले है और दर्शनीय है।

३२. तथा ये फल पक्व है, पका कर खाने योग्य हैं—इस प्रकार न कहे। (तथा ये फल) बेलोचित (अविलम्ब तोडने योग्य है), इनमे गुठली नहीं पडी है, ये दो टुकडे करने योग्य है (फाँक करने योग्य है)—इस प्रकार न कहे।

३३. (प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्रवृक्ष अब फल धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्राय: निष्पन्न) फल वाले है, बहु-सभूत (एक साथ

---

१. परिघ—नगरद्वार की आगल।
२. अर्गला—गृहद्वार की आगल।
३. मयिक—बोये हुए खेत को सम करने के लिए उपयोग में आने वाला कृषि का एक उपकरण।

उत्पन्न हुए बहुत फल वाले) है अथवा भूतरूप (कोमल) है—इस प्रकार कहे ।

३४. इस प्रकार औषधियाँ[1] पक गई है, अपक्व हैं, छवि (फली) वाली है, काटने योग्य है, भूनने योग्य हैं, चिडवा बनाकर खाने योग्य है—इस प्रकार न बोले ।

३५. (प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियाँ अकुरित है, निष्पन्न-प्रायः है, स्थिर है, ऊपर उठ गई है, भुट्टो से रहित है, भुट्टो से सहित हैं, धान्य-कण सहित है—इस प्रकार बोले ।

३६ इसी प्रकार सखडी (जीमनवार) और कृत्य (मृतभोज) को जानकर ये करणीय हैं, चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है—इस प्रकार न कहे ।

३७. (प्रयोजनवश कहना हो तो) सखडी को सखडी, चोर को पणितार्थ—धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला और 'नदी के घाट प्राय सम है'—इस प्रकार कहा जा सकता है ।

३८. तथा नदियाँ भरी हुई है, शरीर के द्वारा पार करने योग्य है और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते है - इस प्रकार न कहे ।

३९. (प्रयोजनवश कहना हो तो) (नदियाँ) प्रायः भरी हुई है, प्रायः अगाध है, बहु-सलिला है, दूसरी नदियो के द्वारा जल का वेग बढ रहा है, बहुत विस्तीर्ण जलवाली है—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे ।

४०. इसी प्रकार दूसरे के लिए किए गए अथवा किए जा रहे सावद्य व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले । जैसे—

४१. बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्र-शाक आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाक की तिक्तता आदि), बहुत अच्छा मरा है (दाल या सत्तू मे घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है (तेमन आदि में), बहुत ही इष्ट है (चावल आदि)— मुनि इन सावद्य वचनो का प्रयोग न करे ।

४२. (प्रयोजनवश कहना हो तो) सुपक्व को प्रयत्न-पक्व कहा जा सकता है । सुछिन्न को प्रयत्न-छिन्न कहा जा सकता है । कर्म-हेतुक (शिक्षा पूर्वक किए हुए) को प्रयत्न-लष्ट कहा जा सकता है । गाढ (गहरे घाव वाले) को प्रहार गाढ कहा जा सकता है ।

---

१. चावल, गेहूँ आदि ।

४३. (क्रय-विक्रय के प्रसग में) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना रहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, इसका मोल करना शक्य नही है, इसकी विशेषता नही कही जा सकती, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे।

४४. (कोई सन्देश कहलाए तब) मै यह सब कह दूंगा, (किसी को सन्देश देता हुआ) यह पूर्ण है—अविकल या ज्यो-का-त्यों है—इस प्रकार न कहे। सब प्रसगो में पूर्वोक्त सब वचन-विधियो का अनुचिन्तन कर प्रज्ञावान् मुनि वैसे बोले जैसे कर्मबंध न हो।

४५. पण्य वस्तु के बारे में (यह माल) अच्छा खरीदा, (बहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत नफा हुआ), यह बेचने योग्य नही है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे।

४६. अल्पमूल्य या बहुमूल्य माल के लेने या बेचने के प्रसंग में मुनि अनवद्य वचन बोले—क्रय-विक्रय से विरत मुनियो का इस विषय मे कोई अधिकार नही है—इस प्रकार कहे।

४७. इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् मुनि असयति (गृहस्थ) को बैठ, इधर आ, (अमुक कार्य) कर, सो, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा—इस प्रकार न कहे।

४८. ये बहुत सारे असाधु जनसाधारण मे साधु कहलाते है। मुनि असाधु को साधु न कहे, जो साधु हो उसी को साधु कहे।

४९. ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप मे रत—इस प्रकार गुण-समायुक्त सयमी को ही साधु कहे।

५०. देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो (पशु-पक्षियो) का आपस में विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे।

५१. वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम[1], सुभिक्ष और शिव[2], ये कब होगे अथवा ये न हो तो अच्छा रहे—इस प्रकार न कहे।

५२. इसी प्रकार मेघ, नभ और मानव के लिए 'ये देव है'—ऐसी वाणी

---

१. क्षेम—शत्रु-सेना से भय न होना।

२. शिव—रोग, मारी आदि का अभाव।

न बोले। पयोधर संमूच्छित हो रहा है—उमड़ रहा है, अथवा उन्नत हो रहा है—झुक रहा है अथवा मेघ बरस पड़ा है—इस प्रकार बोले।

५३ नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। ऋद्धिमान् नर को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'—ऐसा कहे।

५४. इसी प्रकार मुनि सावद्य का अनुमोदन करने वाली, अवधारिणी (संदिग्ध अर्थ के विषय में असंदिग्ध) और पर-उपघातकारिणी भाषा क्रोध, लोभ, भय, मान या हास्यवश न बोले।

५५. वह मुनि वाक्य-शुद्धि को भली-भाँति समझ कर दोषयुक्त वाणी का प्रयोग न करे। मित और दोष-रहित वाणी सोच-विचार कर बोलने वाला साधु सत् पुरुषों में प्रशंसा को प्राप्त होता है।

५६. भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति संयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले।

५७. गुण-दोष को परख कर बोलने वाला, सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

आठवाँ अध्ययन

आचार-प्रणिधि

१. आचार-प्रणिधि[1] को पाकर भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मैं कहूँगा। अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो।

२. पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीजपर्यन्त (मूल से बीज तक) तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी—ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

३. भिक्षु को मन, वचन और काया से उनके प्रति सदा अहिंसक होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक रहने वाला सयत (सयमी) होता है।

४. सुसमाहित संयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति (दरार) शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हे कुरेदे।

५. मुनि शुद्ध पृथ्वी[2] और सचित्त-रज से ससृष्ट आसन पर न बैठे। अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जन कर और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर बैठे।

६. सयमी शीतोदक, ओले, बरसात के जल और हिम का सेवन न करे। तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल ले।

७. मुनि जल से भीगे अपने शरीर को न पोछे और न मले। शरीर को तथाभूत (भीगा हुआ) देख कर उसका स्पर्श न करे।

८. मुनि अगार, अग्नि, अर्चि और ज्योतिसहित अलात (जलती लकड़ी) को न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाए।

९. मुनि वीजन, पत्र, शाखा या पखे से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलो पर हवा न डाले।

१० मुनि तृण, वृक्ष तथा किसी भी (वृक्ष आदि के) फल या मूल का छेदन न करे और विविध प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

११. मुनि वन-निकुञ्ज के बीच बीज, हरित, उदक—अनन्तकायिक-वनस्पति, उत्तिग—सर्पछत्र और काई पर खड़ा न रहे।

---

१. आचार की निधि, आचार में दृढ़ मानसिक संकल्प।

२. शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी या मुड़ भूतल।

१२ मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सब जीवों के वध से उपरत होकर विभिन्न प्रकार वाले जगत् को देखे—आत्मौपम्य दृष्टि से देखे।

१३. सयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म (शरीर वाले जीवो) को देख कर बैठे, खडा हो और सोये। इन सूक्ष्म-शरीर वाले जीवो को जानने पर ही कोई सब जीवो की दया का अधिकारी होता है।

१४. वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से है ? सयमो शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये है—

१५. स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिग[1], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं।

१६. सब इन्द्रियो से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवो को सब प्रकार से जानकर अप्रमत्त-भाव से सदा यतना करे।

१७. मुनि पात्र, कम्बल, शय्या, उच्चार-भूमि, सस्तारक अथवा आसन का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे।

१८. सयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार-प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का उत्सर्ग करे।

१९. मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करके उचित स्थान पर खडा रहे, परिमित बोले और रूप मे मन न करे।

२०. भिक्षु कानो से बहुत सुनता है, आँखो से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने का कहना उसके लिए उचित नही।

२१ सुनी हुई या देखी हुई घटना के बारे मे साधु औपघातिक (पीडा-कारक) वचन न कहे और किसी उपाय मे गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे।

२२. किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है, यह नीरस है, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला यह भी न कहे।

२३. भोजन मे गृद्ध होकर विशिष्ट घरो मे न जाए किन्तु वाचालता से रहित होकर उछ (अनेक घरो से थोडा-थोडा) ले। अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाने पर भी न खाए।

२४. सयमी अणुमात्र भी सन्निधि (सचय) न करे। वह मुधाजीवी

---

१. कीटिकानगर।

(निष्काम-जीवी), असबद्ध (अलिप्त) और जनपद के आश्रित रहे—कुल या ग्राम के आश्रित न रहे।

२५. मुनि रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्प इच्छा वाला और अल्पाहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिन-शासन को सुनकर[1] क्रोध न करे।

२६. कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे। दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे।

२७. क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना), शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है।

२८. सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्य पूर्व में न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे।

२९. आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर प्रलाप न करे, चपल न बने। अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे।

३०. दूसरे का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे।

३१. जान या अजान में कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे।

३२ अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे किन्तु सदा पवित्र, स्पष्ट अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३ मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४. मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

(अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर अपनी आत्मा को शक्ति के अनुसार तप आदि में नियोजित करे।)

३५. जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

३६. क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

---

१. जिनोपदेश से क्रोध के कटु विपाकों को जानकर।

३७. क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

३८. उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

३९. अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जडो का सिंचन करते है।

४०. पूजनीयो (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षापर्याय मे ज्येष्ठ साधुओ) के प्रति विनय का प्रयोग करे। ध्रुवशीलता (अष्टादशसहस्र शीलाङ्गो) की कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त[1] और प्रलीनगुप्त[2] हो तप और संयम मे पराक्रम करे।

४१. मुनि निद्रा को बहुमान न दे, अट्टहास का वर्जन करे, मैथुन की कथा में रमण न करे, सदा स्वाध्याय में रत रहे।

४२. मुनि आलस्यरहित हो श्रमण-धर्म मे योग (मन, वचन और काया) का यथोचित प्रयोग करे। श्रमण धर्म में लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है।

४३. जिस श्रमण-धर्म के द्वारा इहलोक और परलोक मे हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न करे।

४४. जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को सयमित कर, आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) हो कर गुरु के समीप बैठे।

४५. आचार्य आदि के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके उरु से अपना उरु सटाकर न बैठे।

४६. बिना पूछे न बोले, बीच मे न बोले, चुगली न खाए और कपटपूर्ण असत्य का वर्जन करे।

४७. जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले।

---

१. काय-चेष्टा का निरोध।

२. प्रयोजनवश यतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति।

४८. आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, वाचालतारहित और भयरहित भाषा बोले ।

४९. आचारांग और प्रज्ञप्ति—भगवती को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जानकर मुनि उसका उपहास न करे ।

५०. नक्षत्र, स्वप्नफल, वशीकरण, मन्त्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान है, इसलिए मुनि गृहस्थो को इनके फलाफल न बताए ।

५१. मुनि दूसरो के लिए बने हुए गृह, शयन और आसन का सेवन करे । वह गृह मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि से युक्त तथा स्त्री और पशु से रहित हो ।

५२ जो एकान्त स्थान हो वहाँ मुनि केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे । मुनि गृहस्थो से परिचय न करे, परिचय साधुओ से करे ।

५३ जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है ।

५४ चित्र-भित्ति (स्त्रियो के चित्रो से चित्रित भित्ति) या आभूषणो से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे । उनपर दृष्टि पड जाये तो उसे वैसे खीच ले जैसे मध्यान्ह के सूर्य पर पडी हुई दृष्टि स्वय खिच जाती है ।

५५ जिसके हाथ-पैर कटे हुए हो, जो नाक-कान से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे ।

५६ आत्मगवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्री का ससर्ग और प्रणीतरस का भोजन तालपुट-विष के समान है ।

५७ स्त्रियों के अग, प्रत्यंग, सस्थान, चारु-भाषित (मधुर बोली) और कटाक्ष को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले है ।

५८. शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलों के परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयो मे राग-भाव न करे ।

५९ इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलो के परिणमन को जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को उपशान्त कर तृष्णारहित हो विहार करे ।

६० जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला है, उस श्रद्धा को पूर्ववत् बनाए रखे और आचार्य-सम्मत गुणो का अनुपालन करे ।

६१ जो मुनि इस तप, सयम-योग और स्वाध्याय-योग मे सदा प्रवृत्त

रहता है वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।

६२. स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३. जो पूर्वोक्त गुणो से युक्त है, दुःखो को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्वरहित और अकिञ्चन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(पहला उद्देशक)

१. जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है, जैसे—कीचक (बाँस) का फल उसके वध के लिए होता है।

२. जो मुनि गुरु को 'ये मद (अल्पप्रज्ञ) है', 'ये अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत हैं'—ऐसा जानकर उनके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उनकी अवहेलना करते है, वे गुरु की आशातना करते है।

३. कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मद (अल्प-प्रज्ञ) होते है और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणो मे सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हो या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि ईधन-राशि को।

४. जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द ससार मे परिभ्रमण करता है।

५. आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि के कारण बनते है। अतः आशातना से मोक्ष नही मिलता।

६. कोई जलती अग्नि को लाँघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नही होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नही होती।

७. सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नही है।

८. कोई सिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है।

९. सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

१०. आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता। आशातना से मोक्ष नहीं मिलता इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला मुनि गुरु-कृपा के अभिमुख रहे।

११. जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।

१२. जिसके समीप धर्मपदों की शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। सिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर (पञ्चांग-वन्दन कर[1]) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

१३. लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य --ये कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

१४. जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भरत-क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करते है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होते है।

१५. जिस प्रकार बादलों से मुक्त विमल आकाश मे नक्षत्र और तारागण से परिवृत कार्तिक-पूर्णिमा में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होते है।

१६. अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि

---

१. दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे—यह पञ्चांग (दो पैर, दो हाथ और एक सिर) वन्दन की विधि है।

निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

१७. मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवां अध्ययन

विनय-समाधि

(दूसरा उद्देशक)

१. वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती हैं, शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती है। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है।

२. इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' (आचार) और उसका परम (अन्तिम) फल है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त होता है।

३. जो चण्ड, मृग—अज्ञ, स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा ससार-स्रोत मे वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पडा हुआ काठ।

४. विनय मे उपाय के द्वारा प्रेरित करने पर भी जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डडे से रोकता है।

५. जो औपवाह्य[1] घोड़े और हाथी अविनीत होते है, वे सेवाकाल मे दु ख का अनुभव करते हुए देखे जाते है।

६. जो औपवाह्य घोड़े और हाथी सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते है।

७-८. लोक मे जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते है, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनो के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीडित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

९. लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते है।

---

१. सवारी के काम में आने वाले।

१०. जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।

११. जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।

१२ जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते है, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष ।

१३. जो गृही अपने या दूसरो के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते हैं—

१४. वे पुरुष ललितेन्द्रिय होते हुए भी शिक्षा-काल में (शिक्षक के द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं ।

१५. फिर भी वे उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते है, नमस्कार करते हैं और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं ।

१६. जो आगम-ज्ञान को पाने मे तत्पर और अनन्त हित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे ।

१७. भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या (बिछौना) करे, नीची गति करे,[1] नीचे खडा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े ।

१८. अपनी काया से तथा उपकरणो से एव किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मै फिर ऐसा नही करूँगा ।"

१९. जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ आदि को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है ।

(बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु आसन को छोडकर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे ।)

२०. काल, अभिप्राय और आराधन-विधि को हेतुओं से जानकर उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे ।

---

१. शिष्य आचार्य से आगे, अति समीप और अति दूर न चले ।

२१. 'अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है'---ये दोनो जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

२२. जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक[1] है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नही करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय में निपुण नहीं है, जो असविभागी है उसे मोक्ष प्राप्त नही होता।

२३. और जो गुरु के आज्ञाकारी है, जो गीतार्थ हैं, जो विनय मे कोविद हैं, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

---ऐसा मैं कहता हूँ।

१. अविमृश्यकारी

नौवां अध्ययन

विनय-समाधि

(तीसरा उद्देशक)

१. जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित (दृष्टि-विक्षेप) और इंगित (संकेत) को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है ।

२. जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उनके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है ।

३. जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है, गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।

४. जो जीवन-यापन के लिए विशुद्ध सामुदायिक अज्ञात-उंछ [भिक्षा] की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है।

५. संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जो अल्पेच्छ होता है, अपने-आप को सन्तुष्ट रखता है और जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है।

६. पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय काँटों को सहन कर सकता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए वचन रूपी काँटों को सहन करता है, वह पूज्य है ।

७. लोहमय काँटे अल्पकाल तक दुःख-दायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किंतु दुर्वचनरूपी काँटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं।

८. सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँच कर दौर्मनस्य उत्पन्न करते है। जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी, जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है'—ऐसा मानकर उन्हे सहन करता है, वह पूज्य है।

९. जो पीछे से अवर्णवाद नही बोलता, जो सामने विरोधी वचन नही कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नही बोलता, वह पूज्य है।

१०. जो रसलोलुप नहीं होता, इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नही करता, माया नही करता, चुगली नही करता, दीनभाव से याचना नहीं करता, दूसरों से आत्मश्लाघा नही करवाता स्वय भी आत्मश्लाघा नहीं करता और जो कुतूहल नही करता, वह पूज्य है।

११. गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधु-गुणों—साधुता को ग्रहण कर और असाधु-गुणों—असाधुता को छोड। आत्मा को आत्मा से जान कर जो राग और द्वेष मे सम (मध्यस्थ) रहता है, वह पूज्य है।

१२. बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता, जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है।

१३. अभ्युत्थान के द्वारा सम्मानित किये जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते है—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते है, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल मे स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग मे स्थापित करते है, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

१४. जो मेधावी मुनि उन गुणसागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों मे रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है, वह पूज्य है।

१५. इस लोक मे गुरु की सतत सेवा कर, जिनमत-निपुण (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) मे कुशल मुनि पहले किये हुए रज और मल को कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

—ऐसा मै कहता हूँ।

नौवां अध्ययन

विनय-समाधि

(चौथा उद्देशक)

आयुष्मान् ! मैंने सुना है उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे स्थविर भगवान् ने विनय-समाधि के चार स्थानो का प्रज्ञापन किया है।

वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से है जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है ?

वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये है, जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।

१. जो जितेन्द्रिय होते है वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार मे लीन किए रहते है।

विनय-समाधि के चार प्रकार है, जैसे—

१. शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।
२. अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।
३. वेद (ज्ञान) की आराधना करता है अथवा (अनुशासन) के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है।
४. आत्मोत्कर्ष (गर्व) नही करता—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (विनय-समाधि के प्रकरण मे) एक श्लोक है -

मोक्षार्थी मुनि हितानुशासन की अभिलाषा करता है—सुनना चाहता है, शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है, अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है, मैं विनय-समाधि मे कुशल हूँ—इस प्रकार के गर्व के उन्माद मे उन्मत्त नही होता।

श्रुत-समाधि के चार प्रकार है, जैसे—

१. 'मुझे श्रुत प्राप्त होगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

२ 'मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

३. 'मै आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

४. 'मैं धर्म मे स्थित होकर दूसरो को उसमें स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए। यह चतुर्थ पद है और यहाँ (श्रुत-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, धर्म मे स्थित होता है और दूसरो का स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है।

तप-समाधि के चार प्रकार है, जैसे—

१ इहलोक (वर्तमान जीवन की भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नही करना चाहिए।

२. परलोक (पारलौकिक भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नही करना चाहिए।

३ कीर्ति[1], वर्ण[2], शब्द[3], और श्लोक[4] के लिए तप नही करना चाहिए।

४. निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए यह चतुर्थ पद है और यहाँ (तप-समाधि के प्रकरण मे) एक श्लोक है :—

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

१. इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

२. परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

३. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नही करना चाहिए।

---

१. कीर्ति—सर्वदिग्व्यापी प्रशंसा।

२. वर्ण—एकदिग्व्यापी प्रशंसा।

३. शब्द—अर्धदिग्व्यापी प्रशंसा।

४. श्लोक—स्थानीय प्रशंसा।

४. आर्हत-हेतु (संवर और निर्जरा) के अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

५. जो जिनवचन में रत होता है, जो प्रलाप नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६ जो चारों समाधियों को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित-चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

७. वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध अथवा अल्प कर्म वाला महर्द्धिक देव होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दसवां अध्ययन

सभिक्षु

१. जो तीर्थंकर के उपदेश से निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले), निर्ग्रन्थ प्रवचन मे सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियों के अधीन नही होता, जो वमे हुए को वापस नही पीता (त्यक्त भोगो का पुन: सेवन नही करता) वह भिक्षु है।

२. जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतोदक[1] न पीता है और न पिलाता है, शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है—वह भिक्षु है।

३. जो पखे आदि से हवा न करता है और न कराता है, जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजो का सदा विवर्जन करता है (उनके सस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नही करता—वह भिक्षु है।

४. भोजन बनाने मे पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय मे रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है। अत. जो औद्देशिक (अपने निमित्त बना हुआ) नही खाता तथा जो स्वय न पकाता है और न दूसरो से पकवाता है—वह भिक्षु है।

५. जो ज्ञात-पुत्र के वचन मे श्रद्धा रख कर छहो कायो (सभी जीवो) को आत्मसम मानता है, पाँच महाव्रतो का पालन करता है और जो पाँच आस्रवो का सवरण करता है--वह भिक्षु है।

६. जो चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का परित्याग करता है, जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे ध्रुवयोगी है, जो गृहियोग (क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है—वह भिक्षु है।

७. जो सम्यक्-दर्शी है, जो सदा अमूढ है, जो ज्ञान, तप और सयम के अस्तित्व मे आस्थावान है, जो तप के द्वारा पुराने पापो को प्रकम्पित कर देता है, जो मन, वचन तथा काया से सुसवृत है—वह भिक्षु है।

---

१. शीतोदक--जो पानी शस्त्र से अपहृत नहीं वह सचित्त जल।

८. पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—यह कल या परसो काम आयेगा—इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है—वह भिक्षु है।

९. पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त जो अपने साधर्मिकों को निमन्त्रित कर भोजन करता है, जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय मे रत रहता है—वह भिक्षु है।

१०. जो कलहकारी कथा नहीं करता, जो कोप नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो सयम मे ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरो को तिरस्कृत नही करता—वह भिक्षु है।

११. जो काँटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयो, आक्रोश-वचनों, प्रहारो, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दु ख को समभाव-पूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

१२. जो श्मशान मे प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देख कर नहीं डरता, जो विविध गुणो और तपो मे रत होता है, जो शरीर की आकाक्षा नही करता—वह भिक्षु है।

१३. जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्वसह होता है, जो निदान नहीं करता, जो कुतूहल नही करता—वह भिक्षु है।

१४. जो शरीर के परीषहो को जीतकर जाति-पथ (ससार) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—वह भिक्षु है।

१५. जो हाथो से सयत है, पैरो से सयत है, वाणी से सयत है, इन्द्रियों से सयत है, अध्यात्म मे रत है, भलीभाँति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

१६. जो मुनि वस्त्रादि उपधि मे मूर्च्छित नही है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलो से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो सयम को असार करने वाले दोषो से रहित है, जो क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत है, जो सब प्रकार के सगो से रहित है—वह भिक्षु है।

१७. जो अलोलुप है, रसो में गृद्ध नही है, जो उञ्छचारी है (अज्ञात कुलो से थोडी-थोडी भिक्षा लेता है), जो असयम जीवन की आकांक्षा नहीं

करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा है, जो अपनी शक्ति का गोपन नही करता—वह भिक्षु है।

१७. प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते है -ऐसा जानकर जो दूसरो को यह कुशील (दुराचारी) है ऐसा नही कहता, जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नही कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नही लाता—वह भिक्षु है।

१६. जो जाति का मद नही करता, जो रूप का मद नही करता, जो लाभ का मद नही करता, जो श्रुत का मद नही करता, जो सब मदो को वर्जता हुआ धर्म्य-ध्यान मे रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०. जो महामुनि आर्यपद (धर्मपद) का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म मे स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिंग[1] का वर्जन करता है, जो दूसरो को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नही करता—वह भिक्षु है।

२१. अपनी आत्मा को सदा शाश्वतहित मे सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और जन्म-मरण के बन्धन को छेद कर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. परतीर्थिक या आचार रहित स्वतीर्थिक साधुओं का वेश।

पहली चूलिका

रतिवाक्या

मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दु:ख उत्पन्न हो गया, सयम मे उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह संयम को छोड, गृहस्थाश्रम मे चला जाना चाहता है, उसे सयम छोडने से पूर्व इन अठारह स्थानो का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पताका का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं :

१. ओह ! इस दुष्षमा (दु:ख बहुल पाँचवें आरे) मे लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते है।

२. गृहस्थो के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित (तुच्छ) औरअल्पकालिक हैं।

३. मनुष्य प्राय माया-बहुल होते है।

४. यह मेरा परीषह-जनित दु:ख चिरकालस्थायी नही होगा।

५. गृहवासी को नीच जनो का पुरस्कार करना होता है।

६. सयम को छोड घर मे जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना।

७. सयम को छोड गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय जीवन का अगीकार।

८. ओह ! गृहवास मे रहते हुए गृहियो के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।

९. वहाँ आतक वध के लिए होता है।

१०. वहाँ सकल्प वध के लिए होता है।

११. गृहवास क्लेश सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश रहित।

१२. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।

१३. गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।

१४. गृहस्थो के काम-भोग बहुजन-सामान्य हैं—सर्व-सुलभ है।

१५. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

१६. ओह ! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चंचल है।

१७. ओह ! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं ।

१८. ओह ! दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल मे अर्जित किए हुए पाप-कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है—उनसे छुटकारा होता है, उन्हे भोगे बिना (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किये बिना) मोक्ष नही होता—उनसे छुटकारा नही होता । यह अठारहवाँ पद है । अब यहाँ श्लोक है—

१. अनार्य जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता ।

२. जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास मे प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र ।

३. प्रव्रजित काल मे साधु वंदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवंदनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता ।

४. प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा ।

५. प्रव्रजित काल मे साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी ।

६. यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे काँटे को निगलने वाला मत्स्य ।

७. वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओ से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बँधा हुआ हाथी ।

८. पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी ।

९. आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चरित्र) में रमण करता ।

१०. संयम मे रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो सयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-जीवन) महानरक के समान दुःखद होता है ।

११. संयम में रत साधुओ का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जान कर तथा सयम में रत न रहने वाले मुनियों का दु:ख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जान कर पडित मुनि संयम में ही रमण करे।

१२. जिसकी दाढ़ें उखाड़ ली गई हों उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं वैसे ही धर्म-भ्रष्ट, चारित्र रूपी श्री से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील व्यक्ति भी निन्दा करते हैं।

१३. धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करने वाला साधु इसी मनुष्य जीवन में अधर्म का आचरण करता है, उसका अयश और अकीर्ति होती है। साधारण लोगो मे भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है।

१४. वह सयम से भ्रष्ट साधु आवेगपूर्ण चित्त से भोगों को भोग कर और तथाविध प्रचुर असयम का आसेवन कर अनिष्ट एव दु:खपूर्ण गति मे जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नही होती।

१५ दु:ख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवो की पल्योपम और सागरोपम आयु समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनो दु:ख कितने काल का है ?

१६. यह मेरा दु:ख चिरकाल तक नही रहेगा। जीवो की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जाएगी।

१७. जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ संकल्पयुक्त होती है)—"देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नही छोडना चाहिए"—उस दृढ-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नही कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८. बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और अनेक साधनो को जान कर तीन गुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दूसरी चूलिका

विविक्तचर्या

१. मै उस चूलिका को कहूँगा जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है, जिसे सुन भाग्यशाली जीवो की धर्म मे मति उत्पन्न होती है ।

२ अधिकाश लोग अनुस्रोत मे प्रस्थान कर रहे है—भोग-मार्ग की ओर जा रहे है । किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत मे गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगो से विरक्त हो सयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए—विषयानुरक्ति मे प्रवृत्त नही करना चाहिए ।

३. जन-साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने मे सुख की अनुभूति होती है । किन्तु जो सुविहित साधु है उनका आश्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है । अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है (जन्म-मरण का पार पाना है) ।

४. इसलिए आचार मे पराक्रम करने वाले, संवर मे प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओ को चर्या, गुणो तथा नियमो की ओर दृष्टिपात करना चाहिए ।

५. अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलो से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलो से भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणो की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियो के लिए प्रशस्त है ।

६. आकीर्ण[1] और अवमान[2] नामक भोज का विवर्जन, प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण ऋषियो के लिए प्रशस्त है । भिक्षु ससृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले । दाता जो वस्तु दे रहा है उसी से ससृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे ।

---

१. वह भोज जहाँ बहुत भीड़ हो, 'आकीर्ण' कहलाता है ।

२. वह भोज जहाँ गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण खाद्य कम हो जाए, 'अवमान' कहलाता है ।

७. साधु मद्य और मांस का अभोजी, अमत्सरी, बार-बार विकृतियों (घी, दूध, दही आदि) को न खाने वाला, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील हो।

८. साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय, स्वाध्याय-भूमि जब मैं लौट कर आऊँ तब मुझे ही देना। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराये। गाँव, कुल, नगर या देश मे—कही भी ममत्व भाव न करे।

९. साधु गृहस्थ का वैयापृत्य[1] (सेवा) न करे। अभिवादन, वन्दन और पूजन न करे। मुनि सक्लेश रहित साधुओ के साथ रहे जिससे कि चरित्र की हानि न हो।

१०. यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगो में अनासक्त रह अकेला ही (सघस्थित) विहार करे।

११. जिस गाँव मे मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो (अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास और शेष काल में एक मास रह चुका हो) वहाँ दो वर्ष (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किये बिना न रहे। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे वैसे चले।

१२. जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने-आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया ? मेरे लिए क्या करना शेष है ? वह कौन-सा कार्य है जिसे मै कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ ?

१३. क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा किसी भूल को मैं स्वय देख लेता हूँ ? वह कौन-सी स्खलना है जिसे मैं नही छोड़ रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे—असंयम में न बँधे, निदान न करे।

१४. जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वही सम्हल जाए। जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खीचते ही सम्हल जाता है।

---

१. देखें—३/६ का टिप्पण।

१५. जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही सयमी जीवन जीता है।

१६. सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

उत्तराध्ययन

पहला अध्ययन

विनय-श्रुत

१. जो सयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय[1] को क्रमशः प्रकट करूँगा। मुझे सुनो।

२. जो गुरु की आज्ञा[2] और निर्देश[3] का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित[4] और आकार[5] को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है।

३. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नही करता, गुरु की शुश्रूषा नही करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नही जानता, वह 'अविनीत' कहलाता है।

४. जैसे सडे हुए कानो वाली कुतिया सभी स्थानो से निकाली जाती है, वैसे ही दु:शील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला वाचाल भिक्षु भी गण से निकाल दिया जाता है।

५. जिस प्रकार सूअर चावलो की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोडकर दु:शील मे रमण करता है।

६. अपनी आत्मा का हित चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दु:शील मनुष्य के अभाव (हीन भाव) को सुनकर अपने-आप को विनय मे स्थापित करे।

७. इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो। जो

---

१. **विनय—आचार, नम्रता।**
२. **आज्ञा—आगम का उपदेश।**
३. **निर्देश—गुरु-वचन।**
४. **इंगित—कार्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भौं, शिर आदि को हिलाकर भाव व्यक्त करना।**
५. **आकार—स्थूल चेष्टा।**

बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी होता है, वह गण से नहीं निकाला जाता।

८. भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे, वाचालता न करे। उनके पास अर्थ-युक्त पदो को सीखे और निरर्थक कथाओ का वर्जन करे।

९. पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे। क्षुद्र व्यक्तियो के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीडा न करे।

१०. भिक्षु क्रूर व्यवहार न करे। बहुत न बोले। स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे।

११. भिक्षु सहसा क्रूर कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए। अकरणीय कार्य किया हो तो किया और नही किया हो तो न किया कहे।

१२. जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोडा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड दे।

१३. आज्ञा को न मानने वाले और अट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते है। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य शीघ्र ही कुपित होने वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते है।

१४. बिना पूछे कुछ भी न बोले। पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध न करे। क्रोध आ जाए तो उसे विफल कर दे। प्रिय और अप्रिय को धारण करे—उन पर राग और द्वेष न करे।

१५. आत्मा का ही दमन करना चाहिए। क्योकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक मे सुखी होता है।

१६. अच्छा यही है कि मैं सयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

१७. लोगो के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्यों के प्रतिकूल वर्तन न करे।

१८. आचार्यों के बराबर न बैठे। आगे और पीछे भी न बैठे। उनके ऊरू (जाँघ) से अपना ऊरू सटा कर न बैठे। बिछौने पर बैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोड़ कर स्वीकार करे।

१९. संयमी मुनि गुरु के समीप पलथी[1] लगाकर दोनों बाहुओं से जंघाओं को वेष्टित कर तथा पैरों को फैलाकर न बैठे।

२०. आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर कभी भी मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

२१. बुद्धिमान शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर यत्न के साथ स्वीकार करे।

२२. आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे, परतु उनके समीप आकर ऊकडू बैठ, हाथ जोड कर पूछे।

२३. इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो, उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र और अर्थ दोनों) जैसे सुने हों वैसे बताए।

२४. भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चय-कारिणी भाषा न बोले। भाषा के दोषों को छोड़े। माया का सदा वर्जन करे।

२५. किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही सावद्य न बोले, निरर्थक न बोले और मर्म-भेदी वचन न बोले।

२६. कामदेव के मंदिरों में, घरों में, दो घरों के बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे।

२७ "आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए है"—ऐसा सोच कर प्रयत्नपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे।

२८. मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन दुर्गति का निवारक होता है। प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

२९. भय-मुक्त बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु क्षान्ति और चित्त-विशुद्धि करने वाला तथा गुण-वृद्धि का आधारभूत वही अनुशासन अज्ञानियों के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

३०. मुनि वैसे आसन पर बैठे जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान

---

१. पलथी—प्राचीन काल में इसका अर्थ था—घुटनों और जाँघों के चारों ओर कपड़ा बाँध कर बैठना।

हो और स्थिर हो। प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे। बैठे तब स्थिर एवं शांत होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

३१. समय पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आए। अकाल को वर्ज कर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

३२. भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे। गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। मुनि के वेष में एषणा कर यथासमय मित आहार करे।

३३. पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति-दूर या अति-समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता—दोनों की दृष्टि से बच कर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लाँघ कर भिक्षा लेने के लिए न जाए।

३४ संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार ले किन्तु अति-ऊँचे या अति-नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति-समीप या अति-दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

३५. संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित, ऊपर से ढँके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, संयमपूर्वक आहार करे।

३६. बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्ती का साग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (साग की कड़वाहट आदि), बहुत अच्छा भरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, बहुत इष्ट है—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे।

३७. जैसे उत्तम घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु आनन्द पाते हैं और जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु खिन्न होते हैं।

३८. पाप-दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चाँटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है।

३९ गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझ कर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है।

४०. शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वयं भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करनेवाला न हो। उनका छिद्रान्वेषी न हो।

४१. आचार्य को कुपित हुए जान कर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करे और यो कहे कि "मैं पुन: ऐसा नही करूँगा।"

४२. जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कही भी गर्हा को प्राप्त नही होता।

४३. आचार्य के मनोगत और वाक्यगत भावों को जान कर, उनको वाणी से ग्रहण करे और कार्यरूप मे परिणत करे।

४४. जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने मे प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पा कर तुरत ही उनके उपदेशानुसार भलीभाँति कार्य सम्पन्न कर लेता है।

४५. मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जान कर उसे क्रियान्वित करने मे तत्पर हो जाता है। उसकी लोक मे कीर्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियो के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करनेवालो के लिए आधार होता है।

४६. उसपर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं। अध्ययन काल से पूर्व ही वे उसके विनय-समाचरण से परिचित होते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुत-ज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७. वह पूज्य-शास्त्र होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे सशय मिट जाते है। वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दस विध सामाचारी[1]) से सम्पन्न होकर रहता है। वह तप-सामाचारी और समाधि से सवृत होता है। पाँच महाव्रतो का पालन कर वह महान् तेजस्वी हो जाता है।

४८. देव, गन्धर्व आर मनुष्यो से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पक[2] से बने हुए शरीर को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. सामाचारी—मुनियों का व्यवहारात्मक आचार।

२. मल और पक—रक्त और वीर्य।

दूसरा अध्ययन

परीषह-प्रविभक्ति

सू० १. आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे बाईस परीषह[1] होते है, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता ।

सू० २. वे बाईस परीषह कौन से है जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता ?

सू० ३. वे बाईस परीषह ये हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता । जैसे—

१. क्षुधा-परीषह, २. पिपासा-परीषह, ३. शीत-परीषह, ४. उष्ण-परीषह, ५. दंश-मशक-परीषह, ६. अचेल-परीषह, ७. अरति-परीषह, ८. स्त्री-परीषह, ९. चर्या-परीषह, १०. निषद्या-परीषह, ११. शय्या-परीषह, १२. आक्रोश-परीषह, १३. वध-परीषह, १४. याचना-परीषह, १५. अलाभ-परीषह, १६. रोग-परीषह, १७. तृण-स्पर्श-परीषह, १८. जल्ल-परीषह, १९. सत्कार-पुरस्कार परीषह, २०. प्रज्ञा-परीषह, २१. अज्ञान-परीषह, २२. दर्शन-परीषह ।

१. परीषहो का जो विभाग कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित (प्ररूपित) है, उसे मैं क्रमशः कहूँगा । तुम मुझे सुनो ।

---

१. परीषह—स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों को क्षीण करने के लिए जो कष्ट सहा जाता है, वह ।

(१) क्षुधा-परीषह

२. देह में क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हे न पकाए और न पकवाए।

३. शरीर के अग भूख से सूखकर काक-जघा[1] नामक तृण जैसे दुर्बल हो जायें, शरीर कृश हो जाये, धमनियों का ढाँचा-भर रह जाये तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला मुनि अदीनभाव से विहरण करे।

(२) पिपासा-परीषह

४. असयम से घृणा करने वाला, लज्जावान् सयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त (सजीव) पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे।

५. निर्जन मार्ग मे जाते समय प्यास से अत्यत आकुल हो जाने पर, मुह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे।

(३) शीत-परीषह

६. विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को शीत-ऋतु मे सर्दी सताती है। फिर भी वह जिन-शासन को सुन कर (आगम के उपदेश को ध्यान मे रख कर) स्वाध्याय आदि की वेला—मर्यादा का अतिक्रमण न करे।

७. शीत से प्रताडित होने पर मुनि ऐसा न सोचे—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नही हैं और छवित्राण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ।

(४) उष्ण-परीषह

८ गरम धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीडित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने।

९. गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पखे से शरीर पर हवा न ले।

(५) दंश-मशक परीषह

१०. डाँस और मच्छरो का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव मे रहे, क्रोध आदि का वैसे ही हनन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग मे रहा हुआ शूर हाथी बाणो को नही गिनता हुआ शत्रुओ का हनन करता है।

---

[1] २. काकजघा—घुंघची या घुंआ का वृक्ष।

११. भिक्षु उन दंश-मशकों से संत्रस्त न हो, उन्हें हटाए नहीं। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु उनका हनन न करे।

(६) अचेल-परीषह

१२. "वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊँगा"—मुनि ऐसा न सोचे। (दीन और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।)

१३. जिनकल्प[1]-दशा मे अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्प-दशा मे वह सचेलक भी होता है। अवस्था-भेद के अनुसार इन दोनो (सचेलत्व और अचेलत्व) को यति-धर्म के लिए हितकर जान कर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।

(७) अरति-परीषह

१४. एक गाँव से दूसरे गाँव मे विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाये तो उस परीषह को वह सहन करे।

१५. हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म मे रमण करने वाला, असत्-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला, उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे।

(८) स्त्री-परीषह

१६. "लोक मे जो स्त्रियाँ है, वे मनुष्यो के लिए सग है—लेप है"—जो इस बात को जानता है, उसका श्रामण्य सफल है।

१७. "स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दलदल के समान है"—यह जानकर मेधावी मुनि उनसे अपने सयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु वह आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे।

(९) चर्या-परीषह

१८ सयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहो को जीत कर गाँव मे या नगर में, निगम[2] मे या राजधानी मे अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

---

१. जिनकल्प—साधना की विशिष्ट पद्धति।

२. निगम—व्यापारिक केन्द्र।

१९. मुनि असदृश (असाधारण) होकर विहार करे। परिग्रह (ममत्व-भाव) न करे। गृहस्थो से निर्लिप्त रहे। अनिकेत (गृह-मुक्त) रहता हुआ परिव्रजन करे।

(१०) निषद्या-परीषह

२०. राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओ का वर्जन करता हुआ श्मशान, शून्य-गृह अथवा वृक्ष के मूल मे बैठे। दूसरो को त्रास न दे।

२१. वहाँ बैठे हुए उसे उपसर्ग प्राप्त हो तो वह यह चिन्तन करे—"ये मेरा क्या अनिष्ट करेगे?" किन्तु अपकार की शका से डर कर वहाँ से उठ दूसरे स्थान पर न जाए।

(११) शय्या-परीषह

२२. तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पा कर मर्यादा का अतिक्रमण न करे (हर्ष या शोक न लाए)। जो पापदृष्टि होता है, वह मर्यादा का अतिक्रमण कर डालता है।

२३. मुनि एकान्त उपाश्रय—भले फिर वह सुन्दर हो या असुन्दर - को पाकर "एक रात मे क्या होना-जाना है"—ऐसा सोच कर वही रहे, जो भी सुख-दु.ख हो उसे सहन करे।

(१२) आक्रोश-परीषह

२४ कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालको (अज्ञानियो) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे।

२५. मुनि परुष, दारुण और प्रतिकूल भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन मे न लाए।

(१३) वध परीषह

२६. पीटे जाने पर भी मुनि क्रोध न करे। मन को दूषित न करे। क्षमा को परम साधन जान कर मुनि-धर्म का चिन्तन करे।

२७. सयत और दान्त श्रमण को कोई कही पीटे तो वह "आत्मा का नाश नही होता"—ऐसा चिन्तन करे, परन्तु प्रतिशोध की भावना न लाए।

(१४) याचना-परीषह

२८ अरे! अनगार भिक्षु की यह चर्या कितनी कठिन है कि उसे सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नही होता।

२९. गोचराग्र मे प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थो के सामने हाथ पसारना सरल नही है। अतः "गृहवास ही श्रेय है"—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

(१५) अलाभ-परीषह

३० गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोडा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।

३१ "आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु संभव है कल मिल जाये"—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नही सताता।

(१६) रोग-परीषह

३२. रोग को उत्पन्न हुआ जान कर तथा वेदना से पीडित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।

३३ आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधि-पूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

(१७) तृण-स्पर्श-परीषह

३४. अचेलक और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर मे चुभन होती है।

३५. गर्मी पडने से अतुल वेदना होती है—यह जान कर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नही करते।

(१८) जल्ल-परीषह

३६. मैल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के गीला या पंकिल हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।

३७. निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्र-धर्म) को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर 'जल्ल' (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे।

(१९) सत्कार-पुरस्कार-परीषह

३८. जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमंत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हें धन्य न माने।

३९. अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे।

(२०) प्रज्ञा-परीषह

४०. "निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म किए हैं। उन्ही के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नही जानता।

४१. "पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात उदय में आते हैं"—इस प्रकार कर्म के विपाक को जान कर मुनि आत्मा को आश्वासन दे।

(२१) अज्ञान-परीषह

४२. "मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने सवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मै साक्षात् नही जानता—

४३. "तपस्या और उपधान[1] को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा[2] का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नही हो रहा है"—ऐसा चिन्तन न करे।

(२२) दर्शन-परीषह

४४. "निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि[3] भी नही है, अथवा मैं ठगा गया हूँ"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४५. "जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते है वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४६. इन सभी परीषहो का कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है। इन्हें जान कर, इनमें से किसी के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित न हो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. उपधान—आगम-पठन के समय निश्चित विधि से किया जाने वाला तप।

२. प्रतिमा—एक प्रकार की विशिष्ट साधना।

३. ऋद्धि—तपस्या आदि से उत्पन्न विशेष शक्ति, योगज विभूति।

तीसरा अध्ययन

चतुरङ्गीय

१. इस ससार में प्राणियों के लिए चार परम-अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

२. संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नाम वाली जातियो मे उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप से समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं—सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं।

३. जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुरो के निकाय मे उत्पन्न होता है।

४. वही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस[1] कभी कीट, कभी पतंगा, कभी कुंथु और कभी चींटी।

५. जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थों (काम-भोगो) को भोगते हुए भी निर्वेद को प्राप्त नही होते, उसी प्रकार कर्म-किल्विष (कर्म से अधम) जीव योनि-चक्र में भ्रमण करते हुए भी संसार में निर्वेद नही पाते—उससे मुक्त होने की इच्छा नहीं करते।

६. जो जीव कर्मों के सग से सम्मूढ, दुःखित और अत्यन्त वेदना वाले हैं, वे अपने कृत कर्मो के द्वारा मनुष्येतर (नरक-तिर्यञ्च) योनियों मे ढकेले जाते हैं।

७. काल-क्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। उससे शुद्धि प्राप्त होती है। उससे जीव मनुष्यत्व को प्राप्त होते है।

८. मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

९. कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुन कर भी उससे भ्रष्ट हो जाते है।

---

१. बोक्कस—श्मशान पर कार्य करने वाले चाण्डाल।

१० श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी सयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत लोग सयम में रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नही करते।

११. मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम मे पुरुषार्थ कर, संवृत हो, कर्म-रजों को धुन डालता है।

१२. शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमे ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमे धर्म ठहरता है वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भाँति परम दीप्ति को प्राप्त होता है।

१३. कर्म के हेतु को दूर कर। क्षमा से यश (सयम) का सचय कर। ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़ कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

१४. विविध प्रकार के शीलों की आराधना करके जो देव कल्पो व उनके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते है, वे उत्तरोत्तर महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते हैं। 'स्वर्ग से पुन: च्यवन नही होता' ऐसा मानते हैं।

१५. वे दैवी भोगो के लिए अपने-आप को अर्पित किए हुए रहते है। वे इच्छानुसार रूप बनाने मे समर्थ होते हैं। तथा सैकड़ो पूर्व-वर्षों तक —असख्य काल तक वहाँ रहते हैं।

१६. वे देव उन कल्पों मे अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होनेपर वहाँ से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य-योनि को प्राप्त होते है। वे वहाँ दस अगो[1] वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

---

१. दस अग—
(१) चार काम-स्कन्ध।
(२) मित्र।
(३) ज्ञाति।
(४) उच्चगोत्र।
(५) वर्ण।
(६) नीरोगता।
(७) महाप्राज्ञता।
(८) विनीतता।
(९) यशस्विता।
(१०) सामर्थ्य।

१७. क्षेत्र और वस्तु, स्वर्ण, पशु और दास-पौरुषेय—जहां ये चार काम-स्कन्ध[1] होते हैं, उन कुलों में वे उत्पन्न होते हैं।

१८. वे मित्रवान्, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, वर्णवान्, नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात, यशस्वी और बलवान् होते हैं।

१९. जीवन-भर अनुपम मानवीय भोगों को भोग कर, पूर्व-जन्म में आकांक्षा रहित तप करने वाले होने के कारण वे विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं।

२०. वे उक्त चार अंगों को दुर्लभ मान कर संयम को स्वीकार करते हैं। फिर तपस्या से कर्म के सब अंशो को धुन कर शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. काम-स्कन्ध—मनोज्ञ शब्द आदि के अथवा विलास के हेतुभूत पुद्गल-समूह।

चौथा अध्ययन

असंस्कृत

१ जीवन सांधा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत कर। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नही होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे — यह विचार कर।

२. जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियो से धन का उपार्जन करते है, उन्हे देख। वे धन को छोड कर मौत के मुँह मे जाने को तैयार है। वे वैर (कर्म) से बँधे हुए मर कर नरक मे जाते है।

३. जैसे सेंध लगाते हुए पकडा गया चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक मे प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नही होता।

४. ससारी प्राणी अपने बन्धु-जनो के लिए जो साधारण कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-जन बन्धुता नही दिखाते—उसका भाग नही बँटाते।

५. प्रमत्त मनुष्य इस लोक मे अथवा परलोक मे धन से त्राण नही पाता। अंधेरी गुफा मे दीप बुझ गया हो उसकी भाँति, अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देख कर भी नही देखता।

६. आशुप्रज्ञ पडित सोये हुए व्यक्तियो के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बडे घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्बल है। इसलिए तू भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण कर।

७. पग-पग पर दोष से भय खाता हुआ, थोड़े से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। नए-नए गुणो की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो तब विचार-विमर्श पूर्वक इस शरीर का ध्वस कर डाले।

८. शिक्षित और कवचधारी अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि ससार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन में जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९. जो पूर्व जीवन मे अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नही पा सकता। "पिछले जीवन मे अप्रमत्त हो जाएँगे"—ऐसा निश्चय वचन शाश्वत-वादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

१०. कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नही कर सकता। इसलिए तुम उठो ("जीवन के अन्तिम भाग में अप्रमत्त बनेगे"—इस आलस्य को त्यागो)। काम-भोगों को छोडो। लोक को भलीभाँति जानो। समभाव में रमण करो। आत्म-रक्षक और अप्रमत्त हो कर विचरण करो।

११. बार-बार मोह-गुणो पर विजय पाने का यत्न करने वाले उग्र-विहारी श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श पीड़ित करते हैं। किन्तु वह उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२. अनुकूल स्पर्श विवेक को मन्द करने वाले और बहुत लुभावने होते है। वैसे स्पर्शों में मन को न लगाये। क्रोध का निवारण करे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३. जो अन्य-तीर्थिक लोग "जीवन साँधा जा सकता है"—ऐसा कहते हैं वे अशिक्षित हैं, प्रेय और द्वेष में फँसे हुए हैं, परतन्त्र हैं। "वे धर्म-रहित है" —ऐसा सोच उनसे दूर रहे। अंतिम साँस तक गुणों की आराधना करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पांचवां अध्ययन

अकाम-मरणीय

१. इस महा-प्रवाह वाले दुस्तर ससार-समुद्र से कई तिर गए। उनमें एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट कहा—

२. मृत्यु के दो स्थान कथित हैं—अकाम-मरण[1] और सकाम-मरण[2]।

३. बाल[3] जीवो के अकाम-मरण बार-बार होता है। पण्डितो के सकाम-मरण अधिक-से-अधिक एक बार होता है।

४. महावीर ने उन दो स्थानों मे पहला स्थान यह कहा है, जैसे कामासक्त बाल-जीव बहुत क्रूर-कर्म करता है।

५. जो कोई काम-भोगो मे आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्या-भाषण की ओर हो जाती है। वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नही, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है।

६. ये काम-भोग हाथ में आये हुए हैं। भविष्य में होनेवाले सदिग्ध हैं। कौन जानता है—परलोक है या नही ?

७. "मैं लोक-समुदाय के साथ रहूँगा" (जो गति उनकी होगी वही मेरी) ऐसा मान कर बाल-मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

८. फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवो के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९. हिंसक, अज्ञानी, मृषावादी, मायावी, चुगलखोर और शठ मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता हुआ, 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है।

---

१. अकाम-मरण—अविरतिपूर्ण मरण।

२. सकाम-मरण—विरतिपूर्ण मरण।

३. बाल—अज्ञानी।

१०. वह शरीर और वाणी से मत्त होता है । धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है । वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे केंचुआ मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का ।

११. फिर वह रोग से स्पृष्ट होने पर ग्लान बना हुआ परिताप करता है । अपने कर्मों का चिन्तन कर परलोक से भयभीत होता है ।

१२. वह सोचता है—मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जो शील रहित तथा क्रूर-कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यो की अन्तिम गति है और जहाँ प्रगाढ़ वेदना है ।

१३. उन नरको मे जैसा उत्पन्न होने का स्थान है, वैसा मैंने सुना है । वह आयुष्य क्षीण होने पर अपने कृत-कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ अनुताप करता है ।

१४. जैसे कोई गाडीवान् समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़ कर विषम मार्ग से चल पडता है और गाडी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

१५. इसी प्रकार धर्म का उल्लघन कर, अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख मे पडा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाडीवान की तरह शोक करता है ।

१६. फिर मरणान्त के समय वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संत्रस्त होता है और एक ही दाँव मे हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है ।

१७. यह अज्ञानियो के अकाम-मरण का कारण प्रतिपादन किया गया है । अब पण्डितो के सकाम-मरण को मुझसे सुनो ।

१८. जैसा मैंने सुना भी है—पुण्यशाली, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का मरण प्रसन्न और आघात रहित होता है ।

१९. यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थो को । क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम-शील वाले होते है ।

२०. कुछ भिक्षुओ से गृहस्थो का संयम प्रधान होता है । किन्तु साधुओं का सयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है ।

२१. चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नही करते ।

२२ भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दु:शील हो तो वह नरक से नही छूटता । भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है ।

२३. श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगो[1] का आचरण करे। दोनो पक्षो मे किये जाने वाले पौषध[2] को एक दिन-रात के लिए भी न छोडे।

२४. इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास मे रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक मे जाता है।

२५. जो संवृत-भिक्षु होता है, वह दोनो मे से एक होता है—सब दुःखो से मुक्त सिद्ध या महान् ऋद्धि वाला देव।

२६. देवताओ के आवास क्रमशः उत्तम, मोह रहित, द्युतिमान् और देवो से आकीर्ण होते है। उनमे रहने वाले देव यशस्वी—

२७ दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हो—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते है।

२८. जो उपशान्त होते हैं, वे संयम और तप का अभ्यास कर उन देव-आवासो मे जाते है, भले फिर वे भिक्षु हो या गृहस्थ।

२९. उन सत्-पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओ का पूर्वोक्त विवरण सुन कर शीलवान् और बहुश्रुत भिक्षु मरणकाल मे भी संत्रस्त नही होते।

---

१. गृहस्थ-सामायिक के बारह अंग है—
   (१) अहिंसा अणुव्रत।
   (२) सत्य अणुव्रत।
   (३) अचौर्य अणुव्रत।
   (४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत।
   (५) अपरिग्रह अणुव्रत।
   (६) दिग्व्रत।
   (७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत।
   (८) अनर्थदंड विरमण व्रत।
   (९) सामायिक व्रत।
   (१०) देशावकाशिक व्रत।
   (११) पौषध व्रत।
   (१२) अतिथि-संविभाग व्रत।

२. पौषध—उपवासपूर्वक की जाने वाली आत्मोपासना।

३०. मेधावी मुनि अपने-आप को तोल कर, अकाम और सकाम-मरण के भेद को जान कर, यति-धर्मोचित सहिष्णुता और तथाभूत (उपशान्त मोह) आत्मा के द्वारा प्रसन्न रहे—मरण-काल में उद्विग्न न बने।

३१. जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या सलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्ट-जनित रोमाच को दूर कर, शरीर के भेद की इच्छा करे—उसकी सार-सभाल न करे।

३२. वह मरण-काल प्राप्त होने पर सलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त-परिज्ञा, इङ्गिनी या प्रायोपगमन—इन तीनो मे से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

छठा अध्ययन

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

१. जितने अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिङ्मूढ की भाँति मूढ़ बने हुए इस अनन्त ससार में बार-बार लुप्त होते हैं।

२. इसलिए पण्डित पुरुष प्रचुर बधनो व जाति-पथो (चौरासी लाख योनियो) की समीक्षा कर स्वय सत्य की गवेषणा करे और सब जीवो के प्रति मैत्री का आचरण करे।

३. जब मैं अपने द्वारा किये गये कर्मों से छेदा जाता हूँ, तब माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, और औरस-पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नही होते।

४. सम्यक दर्शन वाला पुरुष अपनी बुद्धि से यह अर्थ देखे, गृद्धि और स्नेह का छेदन करे; पूर्व परिचय की अभिलाषा न करे।

५. गाय, घोडा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और पुरुष-समूह—इन सब को छोड। ऐसा करने पर तू काम-रूपी[1] होगा।

(चल और अचल सम्पत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण—ये सभी पदार्थ कर्मो से दुःख पाते हुए प्राणी को मुक्त करने में समर्थ नही होते।)

६ सब दिशाओ से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरो को इष्ट है और सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है--यह देख कर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियो के प्राणो का घात न करे।

७. "परिग्रह नरक है"—यह देख कर वह एक तिनके को भी अपना बना कर न रखे (अथवा "अदत्त का आदान नरक है"—यह देख कर बिना दिया हुआ एक तिनका भी न ले)। असंयम से जुगुप्सा करनेवाला मुनि अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन करे।

---

१. काम-रूपी—इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ देव।

८. इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किये बिना ही आचार को जानने-मात्र से जीव सब दुःखो से मुक्त हो जाता है।

९. "ज्ञान से ही मोक्ष होता है"—जो ऐसा कहते हैं, पर उसके लिए कोई क्रिया नही करते, वे केवल बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले है। वे केवल वाणी की वीरता से अपने-आप को आश्वासन देने वाले है।

१०. विविध भाषाएँ त्राण नही होती। विद्या का अनुशासन भी कहाँ त्राण देता है? अपने-आप को पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य विविध प्रकार से पाप-कर्मों मे डूबे हुए है।

११ जो कोई मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण और रूप मे सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१२. वे इस अनन्त संसार मे जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त किये हुए है। इसलिये सब उत्पत्ति स्थानो को देख कर मुनि अप्रमत्त होकर परिव्रजन करे।

१३. ऊर्ध्वलक्षी होकर कभी भी विषयो की आकाक्षा न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१४. कर्म के हेतुओं को दूर कर मुनि समयज्ञ होकर परिव्रजन करे। गृहस्थ के घर मे सहज-निष्पन्न आहार-पानी की आवश्यक मात्रा प्राप्त कर भोजन करे।

१५. सयमी मुनि लेप लगे उतना भी सग्रह न करे—बासी न रखे। पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

१६. एषणा-समिति से युक्त और लज्जावान् मुनि गाँवो में अनियत विहार करे। वह अप्रमत्त रहकर गृहस्थो से पिण्डपात की गवेषणा करे।

१७. अनुत्तर-ज्ञानी, अनुत्तर-दर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन्, ज्ञात-पुत्र, वैशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सातवाँ अध्ययन

उरभ्रीय

१. जैसे पाहुने के उद्देश्य से कोई मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, मूंग, उड़द आदि खिलाता है और अपने आँगन में ही पालता है।

२. इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान्, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला हो कर पाहुने की आकाङ्क्षा करता है।

३. जब तक पाहुना नही आता तब तक ही वह बेचारा जीता है। पाहुने के आने पर उसका सिर छेद कर उसे खा जाते हैं।

४. जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना यथार्थ में उसकी आकाङ्क्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव यथार्थ मे नरक के आयुष्य की इच्छा करता है।

५. हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग मे लूटने वाला, दूसरो की दी हुई वस्तु का बीच में ही हरण करने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना मे व्यस्त, शठ—

६. स्त्री और विषयो मे गृद्ध, महाआरभ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान्, दूसरो का दमन करने वाला—

७. बकरे की भाँति कर-कर शब्द करते हुए मास को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाङ्क्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की।

८. आसन, शय्या, यान, धन और काम-विषयो को भोग कर, दुःख से एकत्रित किये हुए धन को द्यूत आदि के द्वारा गवाँ कर, बहुत कर्मों को सचित कर—

९. कर्मों से भारी बना हुआ, केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव मरणान्तकाल में उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना।

१०. फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले कर्म-वशवर्ती अज्ञानी जीव देह से च्युत होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर जाते है।

११. जैसे कोई मनुष्य काकिणी[1] के लिए हजार कार्षापण[2] गँवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खा कर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगो मे आसक्त होता है, वह दैवी भोगों को हार जाता है।

१२. दैवी भोगों की तुलना में मनुष्य के काम-भोग उतने ही नगण्य हैं जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना मे एक काकिणी और राज्य की तुलना में एक आम। दिव्य आयु और दिव्य काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगो से हजार गुना अधिक है।

१३. प्रज्ञावान् पुरुष की देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असख्यकाल) की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्षों से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखो को हार जाता है।

१४. जैसे तीन वणिक् मूल पूंजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है—

१५. और एक मूल को भी गवाँ कर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१६. मनुष्यत्व मूल धन है। देवगति लाभ-रूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यञ्च गति मे जाते है।

१७. अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति होती है—नरक और तिर्यञ्च। वहाँ उसे वध-हेतुक आपदा प्राप्त होती है। वह लोलुप और वचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है।

१८. द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है। उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

१९. इस प्रकार हारे हुए को देख कर तथा बाल और पण्डित की तुलना कर जो मानुषी योनि मे आते है, वे मूल धन के साथ प्रवेश करते हैं।

२०. जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओं द्वारा घर में रहते हुए भी सुव्रती है, वे मानुषी योनि मे उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते हैं।

---

१. काकिणी—एक प्रकार का छोटा सिक्का; एक रुपए का अस्सीवां भाग।

२. कार्षापण—चाँदी का सिक्का।

२१. जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले पराक्रमी पुरुष मूल धन (मनुष्यत्व) का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२. इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को (अर्थात् उनके पराक्रम-फल को) जान कर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि "मैं पराजित हो रहा हूँ?" यह जानते हुए उसे पराजित नहीं होना चाहिए।

२३. मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना मे वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

२४. इस अति-सक्षिप्त आयु मे ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने है। फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नहीं समझता?

२५. इस मनुष्य भव मे काम-भोगो से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। वह पार ले जाने वाले मार्ग को सुन कर भी बार-बार भ्रष्ट होता है।

२६. इस मनुष्य भव में काम-भोगो से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नही होता। वह औदारिक शरीर का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है।

२७. (देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, जीवित और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य-कुलो मे उत्पन्न होता है।

२८. तू बाल जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ट बन नरक में उत्पन्न होता है।

२९. सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख। वह अधर्म को छोड कर, धर्मिष्ट बन देवो में उत्पन्न होता है।

३०. पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना कर, बाल-भाव को छोड़, अबाल-भाव का सेवन करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

आठवाँ अध्ययन

कापिलीय

१. अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल ससार में ऐसा कौन-सा कर्म है जिससे मैं दुर्गति मे न जाऊँ ?

२ पूर्व सम्बन्धो का त्याग कर किसी भी वस्तु मे स्नेह न करे। स्नेह करने वालो के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषों और प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।

३. केवलज्ञान और दर्शन से युक्त तथा विगतमोह मुनिवर ने सब जीवो के हित और कल्याण के लिए तथा उन पाँच सौ चोरो की मुक्ति के लिए कहा।

४. भिक्षु कर्म-बन्ध की हेतुभूत सभी ग्रन्थियो और कलह का त्याग करे। काम-भोगो के सब प्रकारो मे दोष देखता हुआ आत्म-रक्षक मुनि उनमे लिप्त न बने।

५. आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् मे विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ जीव उसी तरह (कर्मो से) बँध जाता है जैसे श्लेष्म मे मक्खी।

६. ये काम-भोग दुस्त्यज है, अधीर पुरुषो द्वारा ये सुत्यज नहीं है। जो सुव्रती साधु है वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं जैसे वणिक् समुद्र को।

७ कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष 'हम श्रमण है' ऐसा कहते हुए भी प्राण-वध को नही जानते। वे मन्द और बाल-पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से नरक मे जाते है।

८. प्राण-वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष भी सर्व दुःखों से मुक्त नही हो सकता। उन आर्य तीर्थकरों ने ऐसा कहा है जिन्होंने इस साधु-धर्म की प्रज्ञापना की।

९. जो जीवो की हिसा नही करता उस त्रायी मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है। उससे पापकर्म वैसे ही दूर हो जाते है, जैसे उन्नत प्रदेश से पानी।

१०. जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी है उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करे।

११. भिक्षु शुद्ध एषणाओ को जान कर उनमे अपनी आत्मा को स्थापित करे। यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे। भिक्षा-जीवी रसो मे गृद्ध न हो।

१२. भिक्षु नीरस अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उडद, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मंथु (बेर या सत्तू का चूर्ण) का जीवन-यापन के लिए सेवन करे।

१३. जो लक्षण-शास्त्र,[1] स्वप्न-शास्त्र और अग-विद्या[2] का प्रयोग करते है, उन्हे साधु नही कहा जाता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४. जो इस जन्म में जीवन को अनियंत्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं वे काम-भोग और रसो मे आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय मे उत्पन्न होते है।

१५ वहाँ से निकल कर भी वे ससार मे बहुत पर्यटन करते है। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते है। इसलिए उन्हे बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६. धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि कोई किसी को दे दे, उससे भी वह सन्तुष्ट नही होता—तृप्त नही होता, इतना दुष्पूर है यह आत्मा।

१७. जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड से भी पूरा नही हुआ।

१८. वक्ष मे ग्रंथि (स्तनो) वाली, अनेक चित्त वाली तथा राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियो मे आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन मे डाल कर उसे दास की भाँति नचाती है।

---

१. लक्षण-शास्त्र—शरीर के चिन्हों के आधार पर शुभ-अशुभ बतलाने शास्त्र।

२. अग-विद्या—शारीरिक अवयवों के स्फुरण के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

१९. स्त्रियो को त्यागने वाला अनगार उनमे गृद्ध न बने। भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ जान कर उसमे अपनी आत्मा को स्थापित करे।

२० इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा। जो इसका आचरण करेगे वे ससार-समुद्र को तरेंगे और दोनो लोको की आराधना कर लेगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नौवाँ अध्ययन

नमि-प्रव्रज्या

१. नमिराज का जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ। उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।

२. भगवान् नमिराज पूर्व-जन्म की स्मृति पा कर अनुत्तर धर्म की आराधना के लिए स्वय-सबुद्ध हुआ और राज्य का भार पुत्र के कधो पर डाल कर अभिनिष्क्रमण किया—प्रव्रज्या के लिए चल पड़ा।

३. उस नमिराज ने प्रवर अन्तःपुर मे रह कर देवलोक के भोगो के समान प्रधान भोगो का भोग किया और सबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगो को छोड़ दिया।

४. भगवान् नमिराज ने नगर और जन-पद सहित मिथिला नगरी, सेना, रनिवास और सब परिजनों को छोड कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्त-वासी बन गया।

५. जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मिथला में सब जगह कोलाहल होने लगा।

६. उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण के रूप मे आ कर इस प्रकार कहा—

७. 'हे राजर्षि ! आज मिथिला के प्रासादों और गृहो मे कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यो सुनाई दे रहे है ?'

८. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

९. 'मिथिला मे एक चैत्य-वृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलो से लदा हुआ और बहुत पक्षियो के लिए सदा उपकारी।

१०. 'एक दिन हवा चली और उस चैत्य-वृक्ष को उखाड़ कर फेक दिया। हे ब्राह्मण ! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीडित होकर आक्रन्द कर रहे हैं।'

११. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१२. 'यह अग्नि है और यह वायु है। यह आपका मन्दिर जल रहा है। भगवन् ! आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते ?'

१३. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१४. 'वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

१५. 'पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती।

१६. 'सब सम्बन्धो से मुक्त, 'मै अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं'—इस प्रकार एकत्व-दर्शी, गृह-त्यागी एव तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।'

१७. इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१८. 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम परकोटा, बुर्ज वाले नगर-द्वार, खाई और शतघ्नी[1] बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।'

१९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र से नमि राजर्षि ने इस प्रकार कहा—

२०. 'श्रद्धा को नगर, तप और सयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी स्थानीय), मन, वचन और काय-गुप्ति से सुरक्षित, दुर्जेय और सुरक्षा-निपुण परकोटा बना—

२१. 'पराक्रम को धनुष, ईर्या-समिति को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ बना, उसे सत्य से बाँधे।

२२. 'तप-रूपी लोह-बाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले। इस प्रकार सग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है।'

२३. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१. शतघ्नी—एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र।

२४. 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह और चन्द्रशाला बनवाओ, फिर मुनि बन जाना ।'

२५. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२६. 'वह सदिग्ध ही बना रहता है जो मार्ग मे घर बनाता है । अपना घर वही बनाना चाहिए जहाँ जाने की इच्छा हो—जहाँ जाने पर फिर कही जाना न हो ।'

२७. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८. 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम बटमारो, प्राण हरण करने वाले लुटेरों, गिरहकटो और चोरो का निग्रह कर नगर मे शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बन जाना ।'

२९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३०. 'मनुष्यो द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है । अपराध नही करने वाले यहाँ पकडे जाते है और अपराध करने वाला छूट जाता है ।'

३१ इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३२. 'हे नराधिप क्षत्रिय ! जो कोई राजा तुम्हारे सामने नही झुकते उन्हे वश मे करो, फिर मुनि बन जाना ।'

३३. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा –

३४. 'जो पुरुष दुर्जय सग्राम मे दस लाख योद्धाओ को जीतता है, इसकी अपेक्षा वह एक अपने-आप को जीतता है, यह उसकी परम विजय है ।

३५. 'आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध मे तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है ।

३६. 'पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं । एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते है ।'

३७. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८. 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर मुनि बन जाना।'

३९. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४०. 'जो मनुष्य प्रति मास दस लाख गायो का दान देता है उसके लिए भी सयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।'

४१. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा--

४२ 'हे मनुजाधिप ! तुम गार्हस्थ्य को छोड कर दूसरे आश्रम (सन्यास) की इच्छा करते हो, यह उचित नही। तुम यही रहकर पौषध में रत बनो—अणुव्रत, तप आदि का पालन करो।'

४३. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४. 'जो अविवेकी मनुष्य मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की सोलहवी कला को भी प्राप्त नही होता।'

४५. इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४६. 'हे क्षत्रिय ! अभी तुम चाँदी, सोना, मणि, मोती, काँसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करो, फिर मुनि बन जाना।'

४७. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८. 'कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नही होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

४९. 'पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नही है, यह जान कर तप का आचरण करे।'

५०. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा —

५१. 'हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल मे सहज प्राप्त भोगो को त्याग रहे हो और अप्राप्त काम-भोगो की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने सकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो।

५२. यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

५३. 'काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते है।

५४. 'मनुष्य क्रोध से अधोगति मे जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनो प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक—भय होता है।'

५५ देवेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप छोड, इन्द्र रूप मे प्रकट हो नमि राजर्षि की वन्दना की और इन मधुर शब्दो मे स्तुति करने लगा—

५६. 'हे राजर्षि ! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है ! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है ! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है ! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश मे किया है !

५७. 'अहो ! उत्तम है तुम्हारा आर्जव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारा मार्दव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी क्षमा ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता !

५८. 'भगवन् ! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक मे भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रज से मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान मोक्ष को प्राप्त करोगे।'

५९. इस प्रकार इन्द्र ने उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति की और प्रदक्षिणा करते हुए बार-बार वन्दना की।

६०. इसके पश्चात् मुनिवर नमि के चक्र और अकुश से चिन्हित चरणो में वन्दना कर ललित और चपल कुण्डल एव मुकुट को धारण करने वाला इद्र आकाश मार्ग से चला गया।

६१. नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को नमा लिया – सयम के प्रति समर्पित कर दिया। वे साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी धर्म से विचलित नहीं हुए और गृह तथा वैदेही (मिथिला) को त्याग कर श्रामण्य मे उपस्थित हो गये।

६२. सबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष इसी प्रकार करते है। वे भोगो से निवृत्त होते हैं जैसे कि नमि राजर्षि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दसवाँ अध्ययन

द्रुमपत्रक

१. रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२. कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोडी होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की स्थिति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३. यह आयुष्य क्षण-भगुर है। यह जीवन विघ्नो से भरा हुआ है, इसलिए हे गौतम ! तू पूर्व-सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर। क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

४. सब प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है। कर्म के विपाक तीव्र होते है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

५. पृथ्वी-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-मे-अधिक असख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

६. अप्-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

७. तेजस्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक असख्य काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

८. वायु-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक असख्य काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

९. वनस्पति-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक दुरन्त अनन्त काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१०. द्वीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक संख्येय-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

११. त्रीन्द्रिय-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक सख्येय-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिये हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१२. चतुरिन्द्रिय-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक सख्येय-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१३. पचेन्द्रिय-काय मे उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक सात-आठ जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१४ देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक-से-अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१५ इस प्रकार प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मो द्वारा जन्म-मृत्युमय ससार मे परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१६ मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। उसके मिलने पर भी आर्य देश मे जन्म पाना और भी दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ होते है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१७. आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पाँचो इन्द्रियो से पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। बहुत सारे लोग इन्द्रियहीन दीख रहे है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१८. पाँचो इन्द्रियाँ पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उत्तम धर्म की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग कुतीर्थिको की सेवा करने वाले होते है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

१९. उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२०. उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करनेवाले दुर्लभ है। इस लोक मे बहुत सारे लोग काम-गुणो मे मूर्च्छित होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२१. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२२. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और चक्षु का पूर्व-वर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२३. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२४. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और जिह्वा का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२५. तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२६ तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२७. पित्त-रोग, फोडा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते है, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२८ जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद (रक्त-कमल) जल में लिप्त नही होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

२९. गो-धन और पत्नी का त्याग कर तू अनगार-वृत्ति के लिए घर से निकला है। वमन किये हुए काम-भोगो को फिर से मत पी। हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३० मित्र, बान्धव और विपुल धन-राशि को छोड कर फिर से उनकी गवेषणा मत कर। हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३१. "आज जिन नही दीख रहे है, जो मार्ग-दर्शक हैं वे एक मत नहीं है"---अगली पीढ़ियो को इस कठिनाई का अनुभव होगा, किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला (न्यायपूर्ण) पथ प्राप्त है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३२. कांटो से भरे मार्ग को छोड कर तू विशाल-पथ पर चला आया है। दृढ निश्चय के साथ उसी मार्ग पर चल। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३३. बलहीन भार-वाहक की भाँति तू विषम-मार्ग मे मत चले जाना। विषम-मार्ग मे जानेवाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३४ तू महान् समुद्र को तैर गया, अब तीर के निकट पहुँच कर क्यो खडा है? उसके पार जाने के लिए जल्दी कर। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३५. हे गौतम! तू क्षपक-श्रेणी पर आरूढ होकर उस सिद्धि-लोक को प्राप्त होगा जो क्षेम, शिव और अनुत्तर है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३६. तू गाँव मे या नगर मे संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढा। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

३७ अर्थ और पद से उपशोभित एव सुकथित भगवान् की वाणी को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि-गति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

ग्यारहवाँ अध्ययन

बहुश्रुत-पूजा

१. जो संयोग से मुक्त है, जो अनगार है, जो भिक्षु है, उसका मैं क्रमशः आचार कहूँगा। मुझे सुनो।

२. जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है, जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत कहलाता है।

३. मान, क्रोध, प्रमाद, राग और आलस्य—इन पाँच स्थानो (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती।

४. आठ स्थानो (हेतुओ) से व्यक्ति को शिक्षा-शील कहा जाता है—(१) जो हास्य नही करता (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करता है (३) जो मर्म-प्रकाशन नही करता—

५. (४) जो चरित्र से हीन नही होता (५) जिसका चरित्र दोषों से कलुषित नही होता (६) जो रसो से अति लोलुप नही होता (७) जो क्रोध नही करता और (८) जो सत्य मे रत रहता है उसे शिक्षा-शील कहा जाता है।

६. चौदह स्थानो (हेतुओ) मे वर्तन करने वाला सयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नही होता।

७. (१) जो बार-बार क्रोध करता है (२) जो क्रोध को टिका कर रखता है (३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है (४) जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है—

८. (५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है (६) जो मित्रो पर कुपित होता है (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है—

९. (८) जो असबद्ध-भाषी है (९) जो द्रोही है (१०) जो अभिमानी है (११) जो सरस आहार आदि मे लुब्ध है (१२) जो अजितेन्द्रिय है (१३) जो असविभागी है और (१४) जो अप्रीतिकर है—वह अविनीत कहलाता है।

१०. पन्द्रह स्थानो (हेतुओ) से सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र व्यवहार करता है (२) जो चपल नही होता (३) जो मायावी नही होता (४) जो कुतूहल नही करता—

११ (५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता (६) जो क्रोध को टिका कर नही रखता (७) जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है (८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नही करता—

१२. जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नही करता (१०) जो मित्रो पर क्रोध नही करता (११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त मे प्रशसा करता है—

१३. (१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है (१३) जो कुलीन होता है (१४) जो लज्जावान् होता है और (१५) जो प्रतिसलीन[1] होता है—वह बुद्धिमान् मुनि विनीत कहलाता है।

१४. जो सदा गुरु-कुल मे वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान[2] करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५. जिस प्रकार शङ्ख मे रखा हुआ दूध दोनो ओर (अपने और अपने आधार के गुणो) से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु मे धर्म, कीर्ति और श्रुत—दोनो ओर (अपने और अपने आधार के गुणो) मे सुशोभित होते है।

१६. जिस प्रकार कम्बोज के घोडो मे से कन्थक घोडा शील आदि गुणो से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओ मे बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७. जिस प्रकार जातिमान् अश्व पर चढा हुआ दृढपराक्रमी शूर दोनो ओर बजने वाले वाद्यो के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है।

१८. जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नही होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरो से पराजित नही होता।

---

१. प्रतिसलीन—इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला।
२. उपधान—देखें २|४३ का टिप्पण।

१९. जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बन कर सुशोभित होता है।

२०. जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढो वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य-पशुओं मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्य तीर्थिको में श्रेष्ठ होता है।

२१. जिस प्रकार शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है।

२२. जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नो का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है।

२३ जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और पुरो का विदारण करने वाला शक्र देवो का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है।

२४ जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला उगता हुआ सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है।

२५ जिस प्रकार नक्षत्र-परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है, उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

२६ जिस प्रकार सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालो) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यो से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है।

२७ जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षो मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं मे श्रेष्ठ होता है।

२८. जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र मे मिलने वाली सीता नदी शेष नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओ में श्रेष्ठ होता है।

२९. जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियो से दीप्त मदर पर्वत सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

३०. जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

३१. समुद्र के समान गम्भीर, कष्टो से अबाधित, अभय, किसी प्रतिवादी के द्वारा अपराजेय, विपुलश्रुत से पूर्ण और त्राता बहुश्रुत मुनि कर्मों का क्षय करके उत्तम गति (मोक्ष) मे गये।

३२ इसलिए उत्तम-अर्थ (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला मुनि श्रुत का आश्रयण करे, जिससे वह अपने-आप को और दूसरों को सिद्धि की प्राप्ति करा सके।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बारहवाँ अध्ययन

हरिकेशीय

१. चाण्डाल-कुल में उत्पन्न, ज्ञान आदि उत्तम गुणो को धारण करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला हरिकेशबल नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था ।

२. वह ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप — इन समितियो मे सावधान था, सयमी और समाधिस्थ था ।

३. वह मन, वचन और काया से गुप्त और जितेन्द्रिय था । वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप मे गया, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे ।

४. वह तप से कृश हो गया था । उसके उपधि और उपकरण जीर्ण और मलिन थे । उसे आते देख, वे ब्राह्मण हँसे ।

५. जाति-मद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणो ने परस्पर इस प्रकार कहा—

६. "बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बडी नाक वाला अधनङ्गा, पांशु-पिशाच-सा, गले में फटा चिथडा डाले हुए वह कौन आ रहा है ?

७. "ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहाँ आए हो ? अधनगे तुम पाशु-पिशाच (चुड़ैल) से लग रहे हो । जाओ, आँखों से परे चले जाओ ! यहाँ क्यों खडे हो ?"

८. उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला—

९. "मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, धन व पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूँ। यह भिक्षा का काल है । मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के के लिए यहाँ आया हूँ ।

१०. "आपके यहाँ पर यह बहुत सारा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है । मै भिक्षा-जीवी हूँ, यह आपको ज्ञात होना चाहिए । अच्छा ही है कुछ बचा भोजन इस तपस्वी को मिल जाए ।"

११. —(सोमदेव) 'यहाँ जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणों के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हे नही देगे, फिर यहाँ क्यो खडे हो ?"

१२. —(यक्ष) "अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे ऊँची भूमि मे बीज बोते है, इसी श्रद्धा से[1] मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नही जाएगा।"

१३. —(सोमदेव) "जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक मे हमे ज्ञात है। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त है, वे ही पुण्य-क्षेत्र है।"

१४. —(यक्ष) "जिनमे क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र है।

१५. "हे ब्राह्मणो ! इस ससार मे तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदो को पढ कर भी उनका अर्थ नही जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरो मे भिक्षा के लिए जाते है, वे ही पुण्य-क्षेत्र है।"

१६. -(सोमदेव) "ओ ! अध्यापको के प्रतिकूल बोलने वाले साधु ! हमारे समक्ष तू क्या बढ़-बढ कर बोल रहा है ? हे निर्ग्रन्थ ! यह अन्न-पान भले ही सड़ कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नही देगे।"

१७. —(यक्ष) "मैं समितियो से समाहित, गुप्तियो से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नही दोगे, तो इन यज्ञो का आज तुम्हे क्या लाभ होगा ? "

१८. —(सोमदेव) "यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले ?"

१९ अध्यापको का वचन सुन कर बहुत से कुमार उधर दौड़े। वहाँ आ डण्डों, बेतो और चाबुको से उस ऋषि को पीटने लगे।

२०. राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताड़ित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी।

---

१. मुझे ऊँची भूमि और अपने-आप को नीची भूमि मानते हुए तुम।

२१. —(भद्रा) "राजाओ और इन्द्रो से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित होकर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नही चाहा।

२२. "यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, सयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिये जाने पर भी नही चाहा।

२३ "यह महान् यशस्वी है। अचिन्त्य-शक्ति से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो। यह अवहेलनीय नही है। कही यह अपने तेज से तुम लोगो को भस्मसात् न कर डाले ?"

२४. सोमदेव पुरोहित की पुत्री भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर यक्षों ने ऋषि की परिचर्या करने के लिए कुमारो को भूमि पर गिरा दिया।

२५. वे घोर रूप वाले यक्ष आकाश मे स्थिर होकर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीरो को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

२६ "जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे है, वे नखो से पर्वत खोद रहे हैं, दाँतो से लोहे को चबा रहे है और पैरो से अग्नि को प्रताडित कर रहे है।

२७. "यह महर्षि आशीविष-लब्धि[1] से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय जो भिक्षु का वध कर रहे है, वे पतग-सेना की भाँति अग्नि मे झपापात कर रहे हैं।

२८. "यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिल कर, शिर झुका कर इस मुनि की शरण मे आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"

२९. उन छात्रो के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएँ फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उनके मुह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

३०. उन छात्रो को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हे प्रसन्न करने लगा—"भन्ते ! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करे।"

---

१. आशीविष-लब्धि—योग-जन्य विभूति, अनुग्रह और निग्रह करने का सामर्थ्य।

३१. "भन्ते ! मूढ बालको ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करे। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

३२. —(मुनि) "मेरे मन मे कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयापृत्य कर रहे है। इसी लिए ये कुमार प्रताडित हुए।"

३३. —(सोमदेव) "अर्थ और धर्म को जानने वाले भूतिप्रज्ञ (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नही करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणो की शरण ले रहे है।

३४. "महाभाग ! हम आपकी अर्चा करते है। आपका कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी हम अर्चा न करे। आप नाना व्यंजनो से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।

३५ "मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पडा है। हमे अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।" महात्मा हरिकेशबल ने 'हाँ' भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

३६ देवो ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य-धन की वर्षा की, आकाश मे दुन्दुभि बजाई और 'अहो दानम्'—इस प्रकार का घोष किया।

३७. यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

३८ —(मुनि) "ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ करते हुए तुम बाहर से शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो ? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सम्यग्दर्शन नही कहते।

३९. "दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, संध्या और प्रातःकाल मे जल का स्पर्श करते हुए, प्राणो और भूतो की हिंसा करते हुए, मदबुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो।"

४०. —(सोमदेव) "हे भिक्षो ! हम कैसे प्रवृत्त हो ? यज्ञ कैसे करें, जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सके ? यक्ष-पूजित सयत ! आप हमें बताएँ—कुशल पुरुषो ने श्रेष्ठ-यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है ?"

४१. —(मुनि) "मन और इन्द्रियो का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नही करते; असत्य और चौर्य का सेवन नही करते, परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग करके विचरण करते है।

४२. "जो पाँच सवरो से सुसवृत होता है, जो असंयम-जीवन की इच्छा नही करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।"

४३. —(सोमदेव) "भिक्षो ! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है ? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं ? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से है ? तुम्हारे ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं ? और किस होम से तुम ज्योति को हुत करते हो ?"

४४ —(मुनि) "तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति घी डालने की करछियाँ हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे है। कर्म ईंधन है। सयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि-प्रशस्त (अहिसक) होम करता हूँ।"

४५. —(सोमदेव) "आपका नद कौन-सा है ? आपका शान्ति-तीर्थ कौन-सा है ? आप कहाँ नहा कर कर्म-रज धोते है ? हे यक्ष-पूजित सयत ! हम आप से जानना चाहते है, आप बताइए।"

४६. —(मुनि) "अकलुषित एव आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, जहाँ नहा कर मै विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज का त्याग करता हूँ।

४७ "यह स्नान कुशल पुरुषो द्वारा दृष्ट है। यह महा-स्नान है। अत: ऋषियो के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद मे नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेरहवाँ अध्ययन

चित्र-संभूतीय

१ जाति से पराजित हुए सम्भूत ने हस्तिनापुर मे निदान[1] (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा सकल्प) किया। वह पद्म-गुल्म नामक विमान मे देव बना। वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के रूप में उत्पन्न हुआ।

२ सम्भूत काम्पिल्य नगर मे उत्पन्न हुआ। चित्र पुरिमताल मे एक विशाल श्रेष्ठि-कुल मे उत्पन्न हुआ। वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया।

३. काम्पिल्य नगर मे चित्र और सम्भूत दोनो मिले। दोनो ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दु ख के विपाक की बात की।

४. महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने बहुमान पूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा—

५ "हम दोनो भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।

६. "हम दोनो दशार्ण देश मे दास, कालिजर पर्वत पर हरिण, मृत-गगा के किनारे हंस और काशी देश मे चाण्डाल थे।

७ "हम दोनो सौधर्म देवलोक मे महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठा जन्म है, जिसमे हम एक दूसरे से बिछुड गये।"

८ (मुनि) "राजन्! तू ने निदान-कृत (भोग-प्रार्थना से बद्धयमान) कर्मों का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम बिछुड गये।"

९ —(चक्री) "चित्र! मैने पूर्व-जन्म मे सत्य और शौचमय शुभ अनुष्ठान किये थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूँ। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है?"

---

१. निदान—भोग प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प।

१०. —(मुनि) "मनुष्यों का सब सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामो के द्वारा पुण्य-फल से युक्त है।"

११. "सम्भूत ! जिस प्रकार तू अपने को अचिन्त्य-शक्ति सपन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल से युक्त मानता है, उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन् ! उसके भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।

१२. "स्थविरो ने जन-समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा गाई, जिसे शील और श्रुत से सपन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते है, उसे सुन कर मै श्रमण हो गया।"

१३. —(चक्री) "उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद है। पचाल देश की विशिष्ट वस्तुओ से युक्त और प्रचुर एव विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है—इसका तू उपभोग कर।

१४ "हे भिक्षु ! तू नाट्य, गीत और वाद्यो के साथ नारी-जनो को परिवृत करता हुआ इन भोगो को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१५. धर्म मे स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाला चित्र मुनि ने पूर्व-भव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले काम-गुणों मे आसक्त राजा से यह वचन कहा—

१६ "सब गीत विलाप है, सब नाट्य विडम्बना है, सब आभरण भार है और सब काम-भोग दुःखकर है।

१७. "राजन् ! अज्ञानियो के लिए रमणीय और दुःखकर काम-गुणो मे वह सुख नही है, जो सुख कामो से विरक्त, शील और गुणो में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।

१८ "नरेन्द्र ! मनुष्यो मे चाण्डाल-जाति अधम है। उसमे हम दोनो उत्पन्न हो चुके है। वहाँ हम चाण्डालो की बस्ती मे रहते थे और सब लोग हम से द्वेष करते थे।

१९ "दोनो ने कुत्सित चाण्डाल-जाति मे जन्म लिया और चाण्डालो की बस्ती मे निवास किया। सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है, वह पूर्व-कृत शुभ कर्मों का फल है।

२०. "उसी के कारण वह तू अचिन्त्य-शक्ति सपन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसीलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड कर चारित्र-धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

२१. "राजन् ! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ अनुष्ठान नही करता वह मृत्यु के मुँह मे जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना नहीं होने के कारण परलोक मे भी पश्चात्ताप करता है।

२२. "जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल मे मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अशधर नही होते—अपने जीवन का भाग दे कर बचा नही पाते।

२३. "ज्ञाति, मित्र वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दु ख नही बँटा सकते। वह स्वय अकेला दु:ख का अनुभव करता है। क्योकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

२४ "यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर सुखद या दु.खद पर-भव मे जाता है।

२५ "उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जला कर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।

२६. "राजन् ! कर्म बिना भूल किए जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे है। बुढापा मनुष्य के वर्ण का हरण कर रहा है। पचाल-राज ! मेरा वचन सुन। प्रचुर कर्म मत कर।"

२७ --(चक्री) "साधो ! तू जा मुझे यह वचन जैसे कह रहा है, वैसे मैं भी जानता हूँ कि ये भोग आसक्तिजनक होते है। किन्तु हे आर्य ! हमारे जैसे व्यक्तियो के लिए वे दुर्जय है।

२८ "चित्र मुने ! हस्तिनापुर मे महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनत्-कुमार) को देख भोगो में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान कर डाला।

२९ "उसका मैने प्रायश्चित्त नही किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मै धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगो मे मूर्च्छित हो रहा हूँ।

३० "जैसे दलदल मे फँसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नही पहुँच पाता, वैसे ही काम-गुणो मे आसक्त बने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नही कर पाते।"

३१ (मुनि) "जीवन बीत रहा है। रात्रियाँ दौडी जा रही है। मनुष्यो के भोग भी नित्य नही हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड देते है, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।

३२ "राजन् ! यदि तू भोगो का त्याग करने मे असमर्थ है तो आर्य-कर्म कर। धर्म मे स्थित हो कर सब जीवो पर अनुकम्पा करने वाला बन, जिससे तू जन्मान्तर मे वैक्रिय शरीर वाला देव होगा।

३३. "तुझ में भोगो को त्यागने की बुद्धि नही है। तू आरम्भ और परिग्रह मे आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमन्त्रित किया। राजन्! अब मैं जा रहा हूँ।"

३४. पचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नही किया। वह अनुत्तर काम-भोगो को भोग कर अनुत्तर नरक मे गया।

३५. कामना मे विरक्त और प्रधान चरित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर सयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धि-गति को प्राप्त हुआ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

चौदहवाँ अध्ययन

इषुकारीय

१. पूर्व-जन्म मे देवता होकर एक ही विमान मे रहने वाले कुछ जीव देवलोक से च्युत हुए। उस समय इषुकार नाम का एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान।

२. उन जीवो के अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्म बाकी थे। फलस्वरूप वे इषुकार नगर के उत्तम कुलो मे उत्पन्न हुए। ससार के भय से खिन्न होकर उन्होने भोगों को छोडा और वे जिनेन्द्र-मार्ग की शरण मे चले गए।

३. दोनो पुरोहित कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, विशाल कीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छहो व्यक्ति मनुष्य-जीवन प्राप्त कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण मे चले गए।

४-५. ब्राह्मण के योग्य यज्ञ आदि करने वाले पुरोहित के दोनो प्रिय पुत्रो ने एक बार निर्ग्रन्थ को देखा। उन्हे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और भली-भाँति आचरित तप और सयम की स्मृति जाग उठी। वे जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए। उनका चित्त मोक्ष की ओर खिंच गया। संसार-चक्र से मुक्ति पाने के लिए वे काम-गुणों[1] से विरक्त हो गए।

६. उनकी मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम-भोगो मे आसक्ति जाती रही। मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर पिता के पास आए और इस प्रकार कहने लगे—

७. "हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोडी है। इसलिए घर में हमे कोई आनन्द नही है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आप की अनुमति चाहते है।"

८. उनके पिता ने उन कुमार मुनियो की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बातें कही—"पुत्रो ! वेदो को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नही होता उनकी गति नही होती।"

---

१. काम-गुण—कामनाओं को उत्तेजित करने वाले विषय।

९. "पुत्रो ! इसलिए वेदों को पढ़ो । ब्राह्मणों को भोजन कराओ । स्त्रियों के साथ भोग करो । पुत्रों को उत्पन्न करो । उनका विवाह कर, घर का भार सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना ।"

१०-११. दोनों कुमारों ने सोच-विचार पूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर, आत्म-गुण रूपी ईधन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित शोकाग्नि से, सतप्त और परितप्त हो रहा था, जिसका हृदय वियोग की आशका से अतिशय छिन्न हो रहा था, जो एक एक कर अपना अभिप्राय अपने पुत्रो को समझा रहा था, उन्हे धन और क्रम-प्राप्त काम-भोगो का निमत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

१२. "वेद पढने पर भी वे त्राण नही होते । ब्राह्मणो को भोजन कराने पर वे नरक मे ले जाते है । औरस पुत्र भी त्राण नही होते । इसलिए आपने जो कहा उसका अनुमोदन कौन कर सकता है ?

१३. "ये काम-भोग क्षण-भर सुख और चिरकाल दु:ख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले है, ससार-मुक्ति के विरोधी है और अनर्थों की खान हैं ।

१४ "जिसे कामनाओ से मुक्ति नही मिली वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से सतप्त होकर दिन-रात परिभ्रमण करता है । दूसरो के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज मे लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है ।

१५ "यह मेरे पास है और यह नही है, यह मुझे करना है और यह नही करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है । इस स्थिति मे प्रमाद कैसे किया जाये ?"

१६. "जिसके लिए तप किया करते है वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियो के विषय तुम्हे यही प्राप्त है फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?" पिता ने कहा ।

१७. पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही । हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गाँवो और नगरो में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले ।"

१८. "पुत्रो ! जिस प्रकार अरणी मे अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध मे घी और तिल मे तेल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते है, और नष्ट हो जाते हैं । शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नही रहता"—पिता ने कहा ।

१९. कुमार बोले -- "पिता ! आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह अमूर्त है इसलिए नित्य है। यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है-- ऐसा कहा है।

२०. "हम धर्म को नहीं जानते थे तब घर में रहे हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया। किन्तु अब फिर पाप कर्म का आचरण नहीं करेंगे।

२१ "यह लोक पीडित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है। इस स्थिति मे हमें घर मे सुख नहीं मिल रहा है।"

२२. "पुत्रो ! यह लोक किससे पीडित है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा जाता है ? मैं जानने के लिए चिन्तित हू" पिता ने कहा।

२३. कुमार बोले - "पिता ! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीडित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है।

२४. "जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती है।

२५ "जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं।"

२६ "पुत्रो ! पहले हम सब एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करे फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे"- पिता ने कहा।

२७. पुत्र बोले "पिता ! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो मै नहीं मरूँगा।

२८. "हम आज ही उस मुनि-धर्म का स्वीकार कर रहे है, जहाँ पहुँच कर फिर जन्म लेना न पडे। भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं है --हम उन्हे अनेक बार प्राप्त कर चुके है। राग-भाव को दूर कर श्रद्धा पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

२९. "पुत्रो के चले जाने के बाद मैं घर मे नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि ! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूठ कहते है।

३०. "बिना पंख का पक्षी, रण-भूमि में सेना रहित राजा और जल-पोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।"

३१. वाशिष्ठी ने कहा "ये सुसस्कृत और प्रचुर शृंगार-रस से परिपूर्ण इन्द्रिय-विषय, जो तुम्हें प्राप्त है, उन्हे अभी हम खूब भोगे। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग को स्वीकार करेगे।"

३२. पुरोहित ने कहा - "हे भवति ! हम रसो को भोग चुके है, वय हमें छोडता चला जा रहा है। मैं असंयम-जीवन के लिए भोगों को नही छोड़ रहा हूँ। लाभ-अलाभ और सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ मैं मुनि-धर्म का आचरण करूँगा।"

३३. वाशिष्ठी ने कहा -"प्रतिस्रोत मे बहने वाले बूढे हंस की तरह तुम्हे पीछे अपने बन्धुओ को याद करना न पड़े, इसलिए मेरे साथ भोगो का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दु.खदायी है।"

३४. "हे भवति ! जैसे साँप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त-भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यो रहूँ ? उनका अनुगमन क्यो न करूँ ?

३५ "जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते है वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष काम-भोगों को छोड कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

३६ वाशिष्ठी ने कहा—"जैसे क्रौंच पक्षी और हस बहेलियों द्वारा बिछाए हुए जालो को काट कर आकाश में उड जाते हैं वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यो रहूँ ? उनका अनुगमन क्यों न करूँ ?"

३७ पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगो को छोड कर प्रव्रजित हो चुका है, यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन-धान्य आदि को लेना चाहा तब महारानी कमलावती ने बार-बार कहा –

३८. "राजन् ! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशसा नही होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो—यह क्या है ?

३९. "यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही होगा और वह तुम्हें त्राण भी नही दे सकेगा।

४०. "राजन् ! इन मनोरम काम-भोगो को छोड कर तुम्हे जब कभी मरना होगा। हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है। उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नही दे सकती।

४१. "जैसे पक्षिणी पिजडे मे आनन्द नही मानती, वैसे ही मुझे इस बधन में आनन्द नहीं मिल रहा है। मैं स्नेह के जाल को तोड कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली, विषय-वासना से दूर और परिग्रह एव हिंसा के दोषो से मुक्त हो कर मुनि-धर्म का आचरण करूँगी।

४२. "जैसे दवाग्नि लगी हुई है, अरण्य मे जीव-जन्तु जल रहे है, उन्हे देख राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे जीव प्रमुदित होते है।

४३ "उसी प्रकार काम-भोगो मे मूर्च्छित होकर हम मूढ लोग यह नही समझ पाते कि यह समूचा ससार राग-द्वेष की अग्नि से जल रहा है।

४४. "विवेकी पुरुष भोगो को भोग कर फिर उन्हे छोड वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते है और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले पक्षियो की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतत्र विहार करते है।

४५ "आर्य ! जो काम-भोग अपने हाथो मे आए हुए है और जिनको हमने नियन्त्रित कर रखा है, वे कूद-फाँद कर रहे है। हम कामनाओ मे आसक्त बने हुए है किन्तु अब हम भी वैसे ही होगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रो के साथ भृगु हुए हैं।

४६. "जिस गीध के पास मास होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मास नही होता उस पर नही झपटते -यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड, निरामिष होकर विचरूँगी।

४७. "गीध की उपमा से काम-भोगो को ससार-वर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शकित होकर चलना चाहिए जिस प्रकार गरुड़ के सामने साँप शकित होकर चलता है।

४८. "जैसे बन्धन को तोडकर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान (मोक्ष) मे चले जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार ! यह तथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियो से सुना है।"

४९. राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज काम-भोगों को छोड निर्विषय, निरामिष, निःस्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०. धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड़, वे तीर्थङ्कर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर सयम में घोर पराक्रम करने लगे।

५१. इस प्रकार वे सब क्रमशः बुद्ध होकर, धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न बन गए तथा दुःख के अन्त की खोज में लग गए।

५२-५३. जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी वे सब—राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनो पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन में आकर दुःख का अंत पा गए—मुक्त हो गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्षुक

१ 'धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करूंगा'-- जो ऐसा सकल्प करता है, जो दूसरे भिक्षुओ के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान ऋजु है, जो वासना के सकल्प का छेदन करता है, जो परिचय का त्याग करता है, जो काम-भोगो की अभिलाषा को छोड चुका है, जो तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की खोज करता है, जो अप्रतिबद्ध विहार करता है---वह भिक्षु है।

२ जो रात्रि-भोजन या रात्रि-विहार नही करता, जो निर्दोष आहार से जीवन-यापन करता है, जो विरत है, आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो परीपहो को जीतने वाला और सब जीवो को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो किसी भी वस्तु मे मूर्च्छित नही होता-- वह भिक्षु है।

३· जो धीर मुनि कठोर वचन और ताडना को अपने कर्मो का फल जान कर शान्त भाव से विचरण करता है, जो प्रशस्त है, जो सदा आत्मा का सवरण किये रहता है, जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है---वह भिक्षु है।

४ निकृष्ट शयन और आसन का सेवन करके तथा सर्दी, गर्मी, डाँस और मच्छरों की त्रास को सहन करके भी जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है---वह भिक्षु है।

५ जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नही करता वह प्रशसा की इच्छा कैसे करेगा ? जो सयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओ के साथ रहने वाला और आत्म-गवेषक है- वह भिक्षु है।

६. जिसके सयोग-मात्र से सयम-जीवन छूट जाये और समग्र मोह से बँध जाए वैसे स्त्री या पुरुष की सगति का जो त्याग करता है, जो सदा तपस्वी है, कुतूहल नही करता---वह भिक्षु है।

७. जो छिन्न (छिद्र-विद्या), स्वर (सप्त-स्वर विद्या), भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अग-विकार और स्वर-विज्ञान---इन विद्याओं के द्वारा आजीविका नही करता---वह भिक्षु है।

८. मन्त्र, मूल, विविध प्रकार की आयुर्वेद सम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम-पान की नली, स्नान, आतुर होने पर स्वजन की शरण, चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

९. क्षत्रिय, गण[1], उग्र[2], राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त) और विविध प्रकार के शिल्पी जो होते है, उनकी श्लाघा और पूजा नही करता किन्तु उसे दोष-पूर्ण जान उसका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

१०. दीक्षा लेने के पश्चात् जिन गृहस्थो को देखा हो या उससे पहले जो परिचित हो उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र-पात्र आदि) की प्राप्ति के लिए जो परिचय नही करता—वह भिक्षु है।

११ शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा कारण विशेष से माँगने पर भी इन्कार हो जाए, उस स्थिति मे जो प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

१२ गृहस्थो के घर से जो कुछ आहार, पानक और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की मन, वचन और काया से अनुकम्पा नही करता—उन्हे आशीर्वाद नही देता, जो मन, वचन और काया से सुसवृत होता है—वह भिक्षु है।

१३, ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा-बासी आहार, काँजी का पानी, जौ का पानी जैसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नही करता, जो सामान्य घरों में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

१४ लोक मे देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चो के अनेक प्रकार के रौद्र, अमित भयकर और अद्भुत शब्द होते है, उन्हे सुनकर जो नही डरता—वह भिक्षु है।

१५. लोक मे विविध प्रकार के वादो को जान कर भी जो भिक्षुओं के साथ रहता है, जो सयमी है, जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहो को जीतने वाला और सब जीवो को आत्म-तुल्य समझने वाला होता है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला है—वह भिक्षु है।

१६. जो शिल्प-जीवी नही होता, जिसके घर नही होता, जिसके मित्र नहीं होते, जो जितेन्द्रिय और सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय मन्द होता है, जो थोडा और निस्सार भोजन करता है, जो घर को छोड़ अकेला (राग-द्वेष से रहित हो) विचरता है—वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. गण—गणराज्य।

२. उग्र—आरक्षक।

सोलहवाँ अध्ययन

ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

१. आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य) ने ऐसा कहा है—निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो स्थविर (गणधर) भगवान् हुए हैं, उन्होंने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाये हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

२. स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य-समाधि के वे कौन से दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे। इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे?

३. स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर, और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। वे इस प्रकार हैं-

४. जो एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है वह निर्ग्रन्थ है। जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और

आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए जो स्त्री, पशु, और नपुसकसे आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नही करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

५. जो केवल स्त्रियों के बीच में कथा नही करता वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—केवल स्त्रियो के बीच कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए केवल स्त्रियो के बीच मे कथा न करे ।

६ जो स्त्रियो के साथ एक आसन पर नही बैठता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—स्त्रियो के साथ एक आसन पर बैठनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होना है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे ।

७. जो स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इद्रियो को दृष्टि गडा कर नहीं देखता, उनके विषय मे चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहने है—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को दृष्टि गडा कर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियो के मनोहर और मनोरम इंद्रियों को दृष्टि गडा कर न देखे और उनके विषय में चिन्तन न करे ।

८ जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियो के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को नही सुनता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अतर से, पक्की दीवार के अतर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को न सुने ।

९. जो गृहवास मे की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण नही करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—गृहवास मे की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है इसलिए निर्ग्रन्थ गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे ।

१०. जो प्रणीत आहार नही करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—प्रणीत पान-भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे ।

११. जो मात्रा से अधिक नही पीता और नही खाता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—मात्रा से अधिक पीने और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ मात्रा से अधिक न पीये और न खाए ।

१२. जो विभूषा नहीं करता—शरीर को नहीं सजाता, वह निर्ग्रन्थ है। यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसका स्वभाव विभूषा करने का होता है, जो शरीर को विभूषित किए रहता है, उसे स्त्रियां चाहने लगती हैं। पश्चात् स्त्रियो के द्वारा चाहे जानेवाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ विभूषा न करे।

१३. जो शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है। यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त न बने। ब्रह्मचर्य की समाधि का यह दसवाँ स्थान है।

यहाँ श्लोक है, जैसे—

१. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि वैसे आलय मे रहे जो एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियो से रहित हो।
२. ब्रह्मचर्य मे रत रहनेवाला भिक्षु मन को आह्लाद देने वाली तथा काम-राग बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।
३. ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियो के साथ परिचय और बार-बार वार्तालाप का सदा वर्जन करे।
४. ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षु-ग्राह्य अग-प्रत्यंग, आकार, बोलने की मनहर-मुद्रा और चितवन को न देखे—देखने का यत्न न करे।
५. ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियो के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रदन को न सुने—सुनने का यत्न न करे।
६. ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु पूर्व-जीवन मे स्त्रियो के साथ अनुभूत हास्य, क्रीडा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिंतन न करे।

७. ब्रह्मचर्य मे रत रहने वाला भिक्षु शीघ्र ही काम-वासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदा वर्जन करे।

८. सदा ब्रह्मचर्य मे रत और स्वस्थ चित्त वाला भिक्षु जीवन-निर्वाह के लिए उचित समय मे निर्दोष, भिक्षा द्वारा प्राप्त, परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक न खाए।

९. ब्रह्मचर्य मे रत रहनेवाला भिक्षु विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढाने वाले केश, दाढी आदि का शृङ्गार के लिए धारण न करे।

१०. शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणो का सदा वर्जन करे।

११. (१) स्त्रियो से आकीर्ण आलय,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियो का परिचय,
(४) उनके इन्द्रियो को देखना,

१२. (५) उनके कूजन, रुदन, गीत और हास्य-युक्त शब्दो को सुनना,
(६) भुक्त-भोग और सहावस्थान को याद करना,
(७) प्रणीत पान-भोजन,
(८) मात्रा से अधिक पान-भोजन,

१३. (९) शरीर को सजाने की इच्छा और
(१०) दुर्जय काम-भोग
—ये दस आत्म-गवेषी मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान है।

१४. एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगो और ब्रह्मचर्य मे शका उत्पन्न करने वाले पूर्वोक्त सभी स्थानो का सदा वर्जन करे।

१५. धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम में रत, दान्त और ब्रह्मचर्य मे चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम मे विचरण करे।

१६ उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते है, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

१५. यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है। इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए है, हो रहे है और भविष्य में भी होंगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सतरहवाँ अध्ययन

पाप-श्रमणीय

१. जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुन, दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है -

२ (—गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—) मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपडा भी मेरे पास है, खाने-पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन् ! जो हो रहा है, उसे मैं जान लेता हूँ। भन्ते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन करके क्या करूँगा ?

३ जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद लेता है, खा-पीकर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

४ जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया, उन्ही की निन्दा करता है, वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है।

५ जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यों का सम्यक् प्रकार से चिन्ता नही करता, जो बडो का सम्मान नही करता, जो अभिमानी होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

६. द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असयमी होते हुए भी अपने-आप को सयमी मानने वाला, पाप-श्रमण कहलाता है।

७ जो बिछौने, पाट, पीठ, आसन और पैर पोछने के कम्बल का प्रमार्जन किये बिना (तथा देखे बिना) उन पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

८. जो द्रुतगति से चलता है, जो बार-बार प्रमाद करता है, जो प्राणियो को लाँघ कर उनके ऊपर होकर चला जाता है, जो क्रोधी है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

९. जो असावधानी से प्रतिलेखन करता है, जो पाद-कम्बल को जहाँ कही रख देता है, इस प्रकार जो प्रतिलेखना मे असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१०. जो कुछ भी सुन कर प्रतिलेखना में असावधानी करता है, जो नित्य गुरु का तिरस्कार करता है --शिक्षा देने पर उनके सामने बोलने लगता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

११ जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखनेवाला, भक्त-पान आदि का सविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१२. जो शान्त हुए विवाद को फिर उभाडता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो (कुतर्क) से अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह मे रत होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१३. जो स्थिरासन नही होता—बिना प्रयोजन इधर-उधर चक्कर लगाता है, जो हाथ, पैर आदि अवयवो को हिलाता रहता है, जो जहाँ कही बैठ जाता है—इस प्रकार आसन (या बैठने) के विषय मे जो असावधान होता है वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१४. जो सचित्त रज से भरे हुए पैरो का प्रमार्जन किए बिना ही सो जाता है, सोने के स्थान का प्रतिलेखन नही करता—इस प्रकार बिछौने (या सोने) के विषय मे जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१५ जो दूध, दही आदि विकृतियों[1] का बार-बार आहार करता है और तपस्या मे रत नही रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१६. जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है, 'ऐसा नही करना चाहिए' - इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने मे नही, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१७. जो आचार्य को छोड दूसरे धर्म-सम्प्रदायो मे चला जाता है, जो छह मास की अवधि मे एक गण से दूसरे गण मे सक्रमण करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१८. जो अपना घर छोड कर (प्रव्रजित होकर) दूसरो के घर में व्यापृत होता है— उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बता कर धन का अर्जन करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

---

१. विकृति का अर्थ है—विकार बढ़ाने वाले पदार्थ । विकृति के नौ प्रकार बताये गये हैं—दूध, दही, नवनीत, घृत, तैल, गुड़, मधु, मद्य और मांस ।

१९. जो अपने ज्ञाति-जनो के घरो मे भोजन करता है, किन्तु सामुदायिक भिक्षा करना नही चाहता, जो गृहस्थ की शैया पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

२०. जो पूर्वोक्त आचरण करने वाला, पांच प्रकार के कुशील साधुओ की तरह असवृत, मुनि के वेश को धारण करने वाला और मुनि-प्रवरो की अपेक्षा तुच्छ सयम वाला होता है, वह इस लोक मे विष की तरह निन्दित होता है। वह न इस लोक मे कुछ होता है और न पर लोक मे।

२१. जो इन दोषो का सदा वर्जन करता है वह मुनियों मे सुव्रत होता है। वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक—दोनो लोको की आराधना करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

अठारहवाँ अध्ययन

संजयीय

१. कांपिल्य नगर मे सेना और वाहनों से सम्पन्न संजय नाम का राजा था। एक दिन वह शिकार करने के लिए गया।

२. वह घोडे, हाथी और रथ पर आरूढ़ तथा पैदल चलने वाले महान् सैनिकों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था।

३. वह घोडे पर चढा हुआ था। सैनिक हिरणों को कांपिल्य नगर के केशर नामक उद्यान की ओर ढकेल रहे थे। वह रस-मूर्च्छित होकर उन डरे हुए और खिन्न बने हुए हिरणों को वहाँ व्यथित कर रहा था मार रहा था।

४. उस केशर नामक उद्यान मे स्वाध्याय मे लीन रहने वाले एक तपोधन अनगार धर्म्य-ध्यान मे एकाग्र हो रहे थे।

५. कर्म-बन्धन के हेतुओं को निर्मूल करने वाले अनगार लता-मण्डप मे ध्यान कर रहे थे। राजा ने उनके समीप आए हुए हिरणों पर बाणो के प्रहार किए।

६. राजा अश्व पर आरूढ़ था वह तुरन्त वहा आया। उसने पहले मरे हुए हिरणों को ही देखा, फिर उसने उसी स्थान मे अनगार को देखा।

७. राजा अनगार को देखकर भय-भ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैं भाग्य-हीन, रस-लोलुप और जीवों को मारने वाला हूँ। मैने तुच्छ प्रयोजन के लिए मुनि को आहत किया है।

८. वह राजा घोडे को छोड कर विनय पूर्वक अनगार के चरणो मे वन्दना कर कहता है—"भगवन्! इस कार्य के लिए मुझे क्षमा करे।"

९. वे अनगार भगवान् मौन पूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को प्रत्युत्तर नही दिया। उससे राजा और अधिक भयाकुल हो गया।

१० राजा बोला—"हे भगवन्! मै संजय हू। आप मुझसे बातचीत कीजिए। अनगार कुपित होकर अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को जला डालता है।"

११. अनगार बोले—"पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?

१२. "जब कि तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड कर तुझे चले जाना है तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यो राज्य में आसक्त हो रहा है ?

१३ "राजन् ! तू जहाँ मोह कर रहा है वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चचल है। तू परलोक के हित को क्यो नही समझ रहा है ?

१४. "स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते है किंतु वे मृत के पीछे नही जाते।

१५. "पुत्र अपने मृत पिता को परम दु ख के साथ श्मशान ले जाते है और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रो और बन्धुओं को श्मशान मे ले जाता है, इसलिए हे राजन् ! तू तपश्चरण कर।

१६ "राजन् ! मृत्यु के पश्चात् उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन और सुरक्षित स्त्रियो को हृष्ट, तुष्ट और अलकृत होकर दूसरे व्यक्ति भोगते है।

१७. "उस मरने वाले व्यक्ति ने भी जो कर्म किया—सुखकर या दु:खकर—उसी के साथ वह परभव मे चला जाता है।"

१८ वह सजय राजा अनगार के समीप महान् आदर के साथ धर्म सुन कर मोक्ष का इच्छुक और ससार से उद्विग्न हो गया।

१९. सजय राज्य छोड कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन मे दीक्षित हो गया।

२०. जिसने राष्ट्र को छोड कर प्रव्रज्या ली, उस क्षत्रिय ने (अप्रतिबद्ध-विहारी राजर्षि सजय से) कहा—"तुम्हारी आकृति जैसे प्रसन्न दीख रही है वैसे ही तुम्हारा मन भी प्रसन्न दीख रहा है।

२१. "तुम्हारा नाम क्या है ? गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?"

२२. "नाम से मैं सजय हूँ। गोत्र से मै गौतम हूँ। गर्दभालि मेरे आचार्य है—विद्या और चारित्र के पारगामी। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूँ। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूँ इसलिए मै विनीत कहलाता हूँ।"

२३. वे क्षत्रिय श्रमण बोले—"महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय, अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा एकान्तवादी तत्त्ववेत्ता जो तत्त्व बतलाते है[1]—

२४. "उसे तत्त्ववेत्ता ज्ञात-वंशीय, उपशांत, विद्या और चारित्र से सम्पन्न, सत्य-वाक् और सत्य-पराक्रम वाले भगवान् महावीर ने प्रकट किया है।

२५. "'जो मनुष्य पाप करने वाले है वे घोर नरक मे जाते हैं और आर्य-धर्म का आचरण कर मनुष्य दिव्य-गति को प्राप्त होते है।

२६. 'इन एकान्त-दृष्टि वाले क्रियावादी आदि वादियों ने जो कहा है, वह माया-पूर्ण है इसलिए वह मिथ्या-वचन है, निरर्थक है। मैं उन माया-पूर्ण एकान्तवादो से बच कर रहता हूँ और चलता हूँ।

२७. "मैंने उन सबको जान लिया हैं जो मिथ्या-दृष्टि और अनार्य हैं। मैं परलोक के अस्तित्व मे आत्मा को भलीभाँति जानता हूँ।

२८. "मैं महाप्राण नामक विमान मे कान्तिमान देव था। मैंने वहाँ पूर्ण आयु का भोग किया। जैसे यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण होती है, वैसे ही देवलोक मे पल्योपम[2] और सागरोपम[3] की आयु पूर्ण मानी जाती है।

२९. "वह मैं ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक मे आया हूँ। मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूँ उसी प्रकार दूसरो की आयु को भी जानता हूँ।"

३०. "सयमी को नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ है उनका वर्जन करना चाहिए—इस विद्या के पथ पर तुम्हारा सचरण हो"—(क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि से कहा)—

३१. "मैं (शुभाशुभ सूचक) प्रश्नो और गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मत्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो ! मै दिन-रात धर्माचरण के लिए सावधान रहता हूँ— यह समझ कर तुम तप का आचरण करो।

---

१. इस श्लोक में चार वादो का उल्लेख हुआ है—

१ क्रियावाद—आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाला सिद्धांत।

२ अक्रियावाद—आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानने वाला सिद्धांत।

३ अज्ञानवाद—अज्ञान से सिद्धि मानने वाला सिद्धांत।

४. विनयवाद—विनय से ही मुक्ति मानने वाला सिद्धान्त।

२-३. गणनातीत कालमान।

३२. "जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध-चित्त से आयु के विषय मे पूछते हो, उसे सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, वह ज्ञान जिन-शासन मे विद्यमान है।

३३. "धीर-पुरुष को क्रियावाद पर रुचि करनी चाहिए और अक्रियावाद को त्याग देना चाहिए। सम्यक् दृष्टि के द्वारा दृष्टि-सम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

३४. "अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पवित्र उपदेश को सुन कर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और काम-भोगो को छोड कर प्रव्रज्या ली।

३५. "सगर चक्रवर्ती सागर पर्यन्त भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड, संयम की आराधना कर मुक्त हुए।

३६. "महर्द्धिक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड कर प्रव्रज्या ली।

३७. "महर्द्धिक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तपश्चरण किया।

३८ "महर्द्धिक और लोक मे शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड कर अनुत्तर गति प्राप्त की।

३९ "इक्ष्वाकु कुल के राजाओ मे श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुन्थु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया।

४०. "सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड कर, कर्म-रज से मुक्त हो कर, अर नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की।

४१. "विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगो को छोड कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया।

४२ "(शत्रु-राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एकछत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की।

४३. "जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओ के साथ राज्य परित्याग कर जिन-भाषित दम (इन्द्रिय-सयम) का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।

४४ "साक्षात् शक्र के द्वारा प्रेरित दशार्णभद्र ने दशार्ण देश का प्रमुदित राज्य छोड़ कर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया।

"(विदेह के अधिपति नमिराज ने, जो गृह को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हुए और देवेन्द्र ने जिन्हे साक्षात् प्रेरित किया, आत्मा को नमा लिया--वे अत्यन्त नम्र बन गए।)

४५. "कलिंग मे करकण्डु, पाचाल मे द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गान्धार मे नग्गति--

४६. "राजाओ मे वृषभ के समान ये अपने-अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर जिन-शासन मे प्रव्रजित हुए और श्रमण-धर्म में सदा यत्न-शील रहे।

४७. "सौवीर राजाओ मे वृषभ के समान उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़ कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।

४८. "इसी प्रकार श्रेय और सत्य के लिए पराक्रम करने वाले काशीराज ने काम-भोगो का परित्याग कर कर्म-रूपी महावन का उन्मूलन किया।

४९. "इसी प्रकार विमल-कीर्ति, महायशस्वी विजय राजा ने गुण से समृद्ध राज्य को छोड कर जिन-शासन मे प्रव्रज्या ली।

५० "इसी प्रकार अनाकुल-चित्त से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर (मोक्ष) को प्राप्त किया।

५१ "ये भरत आदि शूर और दृढ पराक्रम-शाली राजा दूसरे धर्म-शासनों में जैन-शासन मे विशेषता पाकर यही प्रव्रजित हुए तो फिर धीर पुरुष एकान्त दृष्टिमय अहेतुवादो के द्वारा उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचरण करे?

५२ "मैने यह अत्यन्त युक्तियुक्त बात कही है। इसके द्वारा कई जीवो ने ससार-समुद्र का पार पाया है, पा रहे है और भविष्य मे पाएंगे।

५३. "धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादो मे अपने-आप को कैसे लगाए? जो सब सगो से मुक्त होता है वह कर्म-रहित होकर सिद्ध हो जाता है।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

उन्नीसवां अध्ययन

मृगापुत्रीय

१. कानन और उद्यान से शोभित सुरम्य सुग्रीव नगर मे बलभद्र राजा था। मृगा उसकी पटरानी थी।

२. उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था। जनता मे वह 'मृगापुत्र'—इस नाम मे विश्रुत था। वह माता-पिता को प्रिय, युवराज और दमीश्वर था।

३. वह दोगुन्दग देवो की भाँति सदा प्रमुदित-मन रहता हुआ आनन्द देने वाले प्रासाद मे स्त्रियो के साथ क्रीडा कर रहा था।

४. मणि और रत्न से जटित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहो, तिराहो और चौहट्टो को देख रहा था।

५. उसने वहाँ जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणो का आकर था।

६. मृगापुत्र ने उसे अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा—"मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैने पहले कही देखा है।"

७. साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर 'मैंने ऐसा कहीं देखा है, ऐसी सघन चित्त-वृत्ति हुई और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई।

(देवलोक से च्युत हो मनुष्य-जन्म मे आया। समनस्क-ज्ञान उत्पन्न हुआ तब पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।)

८. जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म और पूर्व-कृत श्रामण्य की स्मृति हो आई।

९. अब विषयो मे उसकी आसक्ति नही रही। वह सयम मे अनुरक्त हो गया। माता-पिता के समीप आ उसने इस प्रकार कहा—

१०. "मैने पाँच महाव्रतो को सुना है। नरक और तिर्यञ्च योनियो मे दुःख है। मैं ससार-समुद्र से विरक्त हो गया हूँ। मैं प्रव्रजित होऊँगा। माता! मुझे आप अनुज्ञा दे।

११. "माता-पिता ! मै भोगो को भोग चुका हूँ । ये भोग विष के तुल्य हैं, इनका परिणाम कटु होता है और ये निरन्तर दु ख देने वाले है ।

१२. "यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दु ख और क्लेशो का भाजन है ।

१३. "इस अशाश्वत-शरीर मे मुझे आनन्द नही मिल रहा है । इसे पहले या पीछे जब कभी छोडना है । यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है ।

१४. "मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि[1] और रोगों[2] का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है । इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है ।

१५. "जन्म दु.ख है, बुढापा दु ख है रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है । अहो ! संसार दु.ख ही है, जिसमे जीव क्लेश पा रहे है ।

१६. "भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर को छोड कर मुझे अवश ही चले जाना है ।

१७. "जिस प्रकार किम्पाक-फल खाने का परिणाम सुन्दर नही होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता ।

१८. "जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ में सम्बल नही लेता, वह भूख और प्यास से पीडित हो कर चलता हुआ दु खी होता है ।

१९. "इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए बिना परभव मे जाता है वह व्याधि और रोग से पीडित होकर जीवन-यापन करता हुआ दु खी होता है ।

२०. "जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ, वह भूख-प्यास से रहित हो कर चलता हुआ सुखी होता है ।

२१. "इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव मे जाता है, वह अल्पकर्म वाला और वेदना रहित हो कर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है ।

२२. "जैसे घर मे आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओ को उसमे से निकालता है और मूल्यहीन वस्तुओ को वही छोड देता है—

---

१. व्याधि—अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ आदि रोग ।

२. रोग—कदाचित् होने वाले ज्वर आदि ।

२३. "इसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने-आपको निकालूगा।"

२४. माता-पिता ने उससे कहा —"पुत्र ! श्रामण्य का आचरण बहुत कठिन है। भिक्षु को हजारो गुण धारण करने होते हैं।

२५. "विश्व के शत्रु और मित्र—सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत कठिन कार्य है।

२६. "सदा अप्रमत्त रह मृषावाद का वर्जन करना और सतत सावधान रह कर हितकारी सत्य वचन बोलना बहुत कठिन कार्य है।

२७. "दतौन आदि को भी बिना दिए न लेना और दत्त वस्तु भी वही लेना, जो अनवद्य और एषणीय हो, बहुत ही कठिन कार्य है।

२८. "काम-भोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है।

२६ "धन-धान्य और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रहण का वर्जन करना, सब आरम्भो (द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारो) और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३०. "चतुर्विध आहार को रात मे खाने का त्याग करना तथा सन्निधि और सचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३१. "भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डाँस और मच्छरों का कष्ट, आक्रोश-वचन, कष्टप्रद उपाश्रय, घास का बिछौना, मैल—

३२. ताडना, तर्जना, वध, बन्धन का कष्ट, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ —इन्हे सहन करना बहुत कठिन कार्य है।

३३ "यह जो कापोती-वृत्ति[1], दारुण केश-लोच और घोर ब्रह्मचर्य को धारण करना है, वह महान् आत्माओ के लिए भी दुष्कर है।

३४. "पुत्र ! तू सुख भोगने योग्य है, सुकुमार है, साफ-सुथरा रहने वाला है। पुत्र ! तू श्रामण्य का पालन करने के लिए समर्थ नही है।

---

१. कापोती-वृत्ति—कबूतर के समान दोषभीरु वृत्ति। जिस प्रकार कबूतर कण आदि को ग्रहण करते समय सदा शंकित रहता है उसी प्रकार साधु भी भिक्षाचर्या में सदा एषणा-दोष आदि की शका से प्रवृत्त होता है।

३५. "पुत्र श्रामण्य ! में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान् भार है। भारी-भरकम लोह-भार की भांति इसे उठाना बहुत ही कठिन है।

३६. "आकाश-गंगा के स्रोत, प्रतिस्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-संयम को तैरना कठिन कार्य है।

३७. "संयम बालू के कोर की तरह स्वाद-रहित है। तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।

३८. "पुत्र ! साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के जवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालन कठिन है।

३९. "जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४०. जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।

४१. "जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तौलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

४२. "जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत कठिन कार्य है।

४३. "पुत्र ! तू मनुष्य-सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी हो कर मुनि-धर्म का आचरण करना।"

४४. मृगापुत्र ने कहा—"माता-पिता ! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

४५. "मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है।

४६. "मैंने चार अन्त वाले[1] और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जंगल में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।

---

१. संसाररूपी कांतार के चार अन्त हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इसलिए यह चार अन्त वाला कहा जाता है।

४७. "जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहाँ नरक मे मैंने सही है।[1]

४८. जैसे यहाँ यह शीत है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहाँ नरक मे मैंने सही है।

४६. "पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि मे पैरो को ऊँचा और सिर को नीचा कर आक्रन्द करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ।

५०. "महा दवाग्नि जैसे मरु-देश और वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी के बालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ।

५१. "मैं पाक-पात्र मे त्राण रहित हो कर आक्रन्द करता हुआ ऊँचा बाँधा गया तथा करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ।

५२. "अत्यन्त तीखे काँटों वाले ऊँचे शाल्मलि[2] वृक्ष पर पाश मे बाँध, इधर-उधर खीच कर असह्य वेदना से मै खिन्न किया गया हूँ।

५३ "पापकर्मा मैं अति भयकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायत्रो मे ईख की भाँति अनन्त बार पेरा गया हूँ।

५४. "मैं इधर-उधर जाता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एव कुत्तो के द्वारा अनेक बार गिराया, फाडा और काटा गया हूँ।

५५. "पाप-कर्मों के द्वारा नरक मे अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नीले रग वाली तलवारो, भल्लियो और लोहदण्डों के द्वारा छेदा, भेदा और छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त किया गया हूं।

५६. "युग-कीलक[3] से युक्त जलते हुए लोह-रथ मे परवश बनाया गया मै जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हाँका गया तथा रोझ की भाँति भूमि पर गिराया गया हूँ।

५७. "पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भाँति अग्नि की जलती हुई चिताओ मे जलाया और पकाया गया हूँ।

---

१. ७३ से ७४—इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओं का वर्णन है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीड़ा पहुंचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वय परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं।

२. शाल्मलि—सेमल का वृक्ष।

३. युग-कीलक—जुए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कील।

५८. "सडासी जैसी चोच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियो के द्वारा विलाप करता हुआ मैं बल-प्रयोग पूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूँ।

५९. "प्यास से पीडित होकर मैं दौडता हुआ वैतरणी नदी पर पहुंचा। 'जल पीऊँगा'—यह सोच रहा था, इतने में छूरे की धार से मै चीरा गया।

६०. "गर्मी से सतप्त होकर असि-पत्र महावन मे गया। वहाँ गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तों से अनेक बार छेदा गया हूँ।

६१. "मुद्‌गरों, मुसुण्डियो, शूलो और मुसलो से त्राण-हीन दशा में मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मै अनन्त बार दुःख को प्राप्त हुआ हूँ।

६२. "तेज धार वाले छूरो, छुरियो और कैंचियो से मैं अनेक बार खण्ड-खण्ड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूँ तथा मेरी चमडी उतारी गई है।

६३. "पाशो और कूटजालो द्वारा मृग की भाँति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बाँधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ।

६४. "मछली के फँसाने की कँटियो और मगरो को पकडने के जालो द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खीचा, फाडा, पकडा और मारा गया हूँ।

६५. बाज पक्षियो, जालो और वज्रलेपो के द्वारा पक्षी की भाँति मै अनन्त बार पकड़ा, चिपकाया, बाँधा और मारा गया हूँ।

६६. "बढई के द्वारा वृक्ष की भाँति कुल्हाडी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छीला गया हूँ।

६७ "लोहार के द्वारा लोह की भाँति चपत और मुट्ठी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूँ।

६८. "भयकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल शब्द करता हुआ ताँबा, लोहा, राँगा और सीसा पिलाया गया।

६९. "तुझे खण्ड किया हुआ और शूल मे खोम कर पकाया हुआ मास प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मास काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

७०. "तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएँ प्रिय थी—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।

७१. "सदा भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रूप में रहते हुए मैंने परम दुःखमय वेदना का अनुभव किया है।

७२. "तीव्र, चण्ड, प्रगाढ, घोर, अत्यन्त भयंकर वेदनाओं का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।

७३. "माता-पिता ! मनुष्य-लोक मे जैसी वेदना है उससे अनन्तगुना अधिक दुःख देने वाली वेदना नरक-लोक में है।

७४. "मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहाँ एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नही है।"

७५ माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र ! तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ। परन्तु श्रमण बनने के बाद रोगों की चिकित्सा नही की जाती। यह कितना कठिन मार्ग है ?"

७६. उसने कहा—"माता-पिता ! आपने जो कहा वह ठीक है। किन्तु जगल मे रहने वाले हरिण और पक्षियो की चिकित्सा कौन करता है ?

७७. "जैसे जगल मे हरिण अकेला विचरता है, वैसे मैं भी सयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

७८. "जब महावन मे हरिण के शरीर मे आतक उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के पास बैठे हुए उस हरिण की कौन चिकित्सा करता है ?

७९. "कौन उसे औषधि देता है ? कौन उससे सुख की बात पूछता है ? कौन उसे खाने-पीने को भोजन-पानी लाकर देता है ?

८०. "जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर मे जाता है। खाने-पीने के लिए लता-निकुजो और जलाशयो मे जाता है।

८१ "लता-निकुजो और जलाशयो मे खा-पीकर वह मृग-चर्या (छलांग) के द्वारा मृग-चर्या (स्वतत्र-विहार) के लिए चला जाता है।

८२. "इसी प्रकार सयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची-दिशा—मोक्ष को चला जाता है।

८३. "जिस प्रकार हरिण अकेला, अनेक स्थानो से भोजन-पानी लेने वाला और गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचर-प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा और निन्दा नही करता।

८४. "मैं मृग-चर्या का आचरण करूँगा।" "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पाकर वह उपधि को छोड़ रहा है।

८५. "मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सब दु:खों से मुक्ति दिलाने वाली मृग-चर्या का आचरण करूँगा।" (माता-पिता ने कहा)—"पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।"

८६. "इस प्रकार वह नाना उपायों से माता-पिता को अनुमति के लिए राजी कर ममत्व का छेदन कर रहा है जैसे महानाग कांचुली का छेदन करता है।

८७. "ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की भाँति झटक कर वह निकल गया—प्रव्रजित हो गया।

८८. "वह पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आन्तरिक और बाहरी तपस्या में तत्पर—

८९ "ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला—

९०. "लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला—

९१. "गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से रहित—

९२. "इहलोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाला—

९३ "प्रशस्त द्वारों से आने वाले कर्मपुद्गलों का सर्वत निरोध करने वाला, शुभ-ध्यान की प्रवृत्ति से प्रशस्त एवं उपशम-प्रधान शासन में रहने वाला हुआ।

९४. "इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली-भाँति भावित कर—

९५ "बहुत वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर, अन्त में एक महीने का अनशन कर वह अनुत्तर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुआ।

९६. "सबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण जो होते हैं वे ऐसा करते है। वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते है, जिस प्रकार मृगा-पुत्र ऋषि हुए थे।

९७ "महा प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगा-पुत्र का कथन, तप-प्रधान उत्तम-आचरण और त्रिलोक-विश्रुत प्रधान-गति (मोक्ष) को सुन कर—

९८. "धन को दु:ख बढ़ाने वाला और ममता के बन्धन को महान् भयंकर जान कर सुख देने वाली, अनुत्तर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली, महान् धर्म की धुरा को धारण करो।[1]"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बीसवाँ अध्ययन

महानिर्ग्रन्थीय

१. सिद्धों और संयत-आत्माओं को भाव-भरा नमस्कार कर मैं अर्थ (साध्य) और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशासना का निरूपण करता हूँ। वह मुझसे सुनो।

२. प्रचुर रत्नों से सम्पन्न, मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में विहार-यात्रा (क्रीड़ा-यात्रा) के लिए गया।

३ वह उद्यान नाना प्रकार के द्रुमों और लताओं से आकीर्ण, नाना प्रकार के पक्षियो से आश्रित, नाना प्रकार के कुसुमो से पूर्णतः ढँका हुआ और नन्दनवन के समान था।

४. वहाँ राजा ने संयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा।

५ उसके रूप को देखकर राजा उस संयत के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अत्यन्त उत्कृष्ट और अतुलनीय विस्मय हुआ।

६. आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है। आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है। आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है। आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है।

७. उसके चरणों मे नमस्कार और प्रदक्षिणा कर, न अतिदूर, न अतिनिकट रह राजा ने हाथ जोड़ कर पूछा—

८. "आर्य! अभी तुम तरुण हो। सयत! तुम भोग-काल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो इसका क्या प्रयोजन है? मैं सुनना चाहता हूँ।"

९. "महाराज! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या मित्र कोई नहीं पा रहा हूँ।"

१०. यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हँसा और बोला— "तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं है?

११. "हे भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। सयत ! मित्र और ज्ञातियो से परिवृत होकर विषयो का भोग करो। यह मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है।"

१२. "हे मगध के अधिपति श्रेणिक ! तू स्वय अनाथ है। स्वय अनाथ होते हुए तू दूसरों का नाथ कैसे होगा ?"

१३. श्रेणिक पहले ही विस्मयान्वित बना हुआ था और साधु के द्वारा—'तू अनाथ है'—ऐसा अश्रुतपूर्व-वचन कहे जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल और अत्यन्त आश्चर्यमग्न हो गया।

१४. "मेरे पास हाथी, घोडे और मनुष्य है, नगर और अन्तःपुर है, मैं मनुष्य सम्बन्धी भोगो को भोग रहा हू, आज्ञा और ऐश्वर्य मेरे पास है।

१५. "जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किये हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते हुए मैं अनाथ कैसे हू ? भदन्त ! असत्य मत बोलो।"

१६. "हे पार्थिव ! तू अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति—मैंने तुझे अनाथ क्यो कहा—इसे नही जानता, इसलिए जैसे अनाथ या सनाथ होता है, वैसे नही जानता।

१७. "महाराज ! तू अव्याकुल चित्त से वह सुन—जैसे कोई पुरुष अनाथ होता है और जिस रूप में मैंने अनुभव किया है।

१८. "प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहाँ मेरे पिता रहते हैं। उनके पास प्रचुर धन का सचय है।

१९. "महाराज ! प्रथम-वय में मेरी आँखो में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव ! मेरा समूचा शरीर पीडा देने वाली जलन से जल उठा।

२०. "जैसे कुपित बना हुआ शत्रु शरीर के छेदों मे अत्यन्त तीखे शस्त्रों को घुसेडता है, उसी प्रकार मेरी आँखो में वेदना हो रही थी।

२१. "मेरे कटि, हृदय और मस्तक में परम दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र का वज्र लगने से घोर वेदना होती है।

२२. "विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले मन्त्र और औषधियों के विशारद अद्वितीय शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए।

२३. "उन्होंने जैसे मेरा हित हो वैसे चतुष्पाद-चिकित्सा[1] की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२४. "मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएँ दीं, किन्तु वे (पिता) मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२५. "महाराज ! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से पीड़ित होती हुई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

२६. "महाराज ! मेरे बड़े-छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२७. "महाराज ! मेरी बड़ी-छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं—यह मेरी अनाथता है ।

२८. "महाराज ! मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता मेरी पत्नी आँसू भरे नयनों से मेरी छाती को भिगोती रही ।

२९. "वह बाला मेरे प्रत्यक्ष या परोक्ष में अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का भोग नहीं कर रही थी ।

३०. "'वह क्षण-भर के लिए भी मुझसे दूर नहीं हो रही थी, किन्तु वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

३१. "तब मैंने इस प्रकार कहा—इस अनन्त संसार में बार-बार दुस्सह्य वेदना का अनुभव करना होता है ।

३२. "इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार कर लूँ ।

३३. "हे नराधिप ! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया । बीतती हुई रात्रि के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ।

३४. "उसके पश्चात् प्रभातकाल में मैं स्वस्थ हो गया । मैं अपने बन्धु-जनों को पूछ क्षांत, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति में आ गया ।

३५. "तब मैं अपना और दूसरों का, सभी त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया ।

---

१. चतुष्पाद-चिकित्सा—चिकित्सा के चार पाद होते हैं—वैद्य, औषध, रोगी और परिचारक । जहाँ इन चारों का पूर्ण योग होता है उसे चतुष्पाद कहते हैं ।

३६. "मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही काम-दुधा-धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

३७. "आत्मा ही दु.ख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

३८. हे र जन्! यह एक दूसरी अनाथता ही है। एकाग्रचित्त, स्थिर-शान्त होकर तुम उसे मुझसे सुनो। जैसे कई एक व्यक्ति बहुत कायर होते हैं। वे निर्ग्रन्थ-धर्म को पाकर भी कष्टो का अनुभव करते है—निर्ग्रन्थाचार के पालन करने मे शिथिल हो जाते है।

३९. "जो महाव्रतो को स्वीकार कर भलीभाँति उनका पालन नही करता, अपनी आत्मा का निग्रह नही करता, रसों में मूर्च्छित होता है, वह बधन का मूलोच्छेद नही कर पाता।

४०. "ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवण की परि-स्थापना मे जो सावधानी नही बर्तता, वह उस मार्ग का अनुगमन नही कर सकता जिस पर वीर पुरुष चले है।

४१. "जो व्रतो मे स्थिर नही है, तप और नियमो से भ्रष्ट है, वह चिर-काल तक मुडरुचि (साधु) होकर भी, चिरकाल तक आत्मा को कष्ट देकर भी, संसार का पार नही पा सकता।

४२. "जो पोली मुट्ठी की भाँति असार है, सिक्के की भाँति नियन्त्रण-रहित है, कांचमणि होते हुए भी वैडूर्य जैसे चमकता है, वह जानकार व्यक्तियो की दृष्टि मे मूल्य-हीन हो जाता है।

४३. "जो कुशील-वेश और ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि-चिह्नो) को धारण कर उनके द्वारा जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने-आप को सयत कहता है, वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।

४४. "पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकडा हुआ शस्त्र और नियन्त्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही यह विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

४५. "जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक[1] कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले

---

१. कौतुक—सन्तान-प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान आदि करना।

विद्यात्मक आश्रव-द्वार से जीविका चलाता है, वह कर्म का फल भुगतने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता ।

४६. "वह शील-रहित साधु अपने तीव्र अज्ञान से सतत दुःखी होकर विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है। वह असाधु प्रकृति वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक और तिर्यग्योनि मे आता-जाता रहता है ।

४७. "जो औद्देशिक[1], क्रीतकृत[2], नित्याग्र[3] और कुछ भी अनैषणीय को नही छोडता, वह अग्नि की तरह सर्व-भक्षी होकर, पाप-कर्म का अर्जन करता है और यहाँ से मर कर दुर्गति मे जाता है ।

४८. "अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नही करता। वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दया-विहीन मनुष्य मृत्यु के मुख मे पहुचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान पाएगा ।

४९. "जो अन्तिम समय की आराधना मे भी विपरीत बुद्धि रखता है—दुष्प्रवृत्ति को सत् प्रवृत्ति मानता है उसकी संयम-रुचि भी निरर्थक है । उसके लिए यह लोक भी नही है, परलोक भी नही है। वह दोनो लोको से भ्रष्ट होकर दोनो लोको के प्रयोजन की पूर्ति न कर सकने के कारण चिन्ता से छीज जाता है ।

५०. "इसी प्रकार यथाछन्द (स्वच्छन्द भाव से विहार करने वाले) और कुशील साधु जिनोत्तम भगवान् के मार्ग की विराधना कर परिताप को प्राप्त होते है, जैसे—भोग-रस में आसक्त होकर अर्थ-हीन चिन्ता करने वाली गीध पक्षिणी ।

५१. "मेधावी पुरुष इस सुभाषित, ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन को सुनकर कुशील व्यक्तियो के सपूर्ण मार्ग को छोडकर महानिर्ग्रन्थ के मार्ग से चले ।

५२. "फिर चरित्र के आचरण और ज्ञान आदि गुणो से सम्पन्न निर्ग्रन्थ अनुत्तर सयम का पालन कर, कर्मों का क्षय कर निरास्रव होता है और वह विपुलोत्तम शाश्वत स्थान—मोक्ष मे चला जाता है।"

५३. इस प्रकार उग्र-दान्त, महा-तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महाश्रुत, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन को महान् विस्तार के साथ कहा ।

१-२-३—देखें दशवैकालिक ३/२ का टिप्पण ।

५४. श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—"भगवन् ! तुमने अनाथ का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाया है।

५५. "हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियाँ हुई हैं वे भी सफल है। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो क्योंकि तुम तीर्थंकर के मार्ग में अवस्थित हो।

५६. "हे सयत ! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग ! मैं अनुशासित होना चाहता हूँ।

५७. "मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान मे विघ्न किया और भोगो के लिए निमन्त्रण दिया, मेरे उन सब व्यवहारो को तुम सहन करो—क्षमा करो।"

५८. इस प्रकार राजसिंह—श्रेणिक अनगार-सिंह की परम भक्ति से स्तुति कर अपने विमल चित्त से रनिवास, परिजन और बन्धु-जन सहित धर्म में अनुरक्त हो गया।

५९. राजा के रोम-कूप उच्छ्वसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा कर, सिर झुका, वन्दना कर चला गया।

६०. वह गुण से समृद्ध, त्रिगुप्तियो से गुप्त, तीन दण्डो से विरत और निर्मोह मुनि भी विहग की भाँति स्वतन्त्र-भाव से भूतल पर विहार करने लगा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्रपालीय

१. चम्पा नगरी में पालित नामक एक वणिक्-श्रावक हुआ। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था।

२ वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे कोविद था। वह जहाज से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर मे आया।

३. पिहुण्ड नगर मे व्यापार करते समय उसे किसी वणिक् ने पुत्री दी। कुछ समय ठहरने के पश्चात् वह गर्भवती को लेकर स्वदेश को विदा हुआ।

४ पालित की स्त्री ने समुद्र मे पुत्र का प्रसव किया। वह समुद्र में उत्पन्न हुआ इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रखा।

५ वह वणिक्-श्रावक सकुशल चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह सुखोचित पुत्र अपने घर मे बढ़ने लगा।

६ उसने बहत्तर कलाएँ सीखी और वह नीति-कोविद बना। वह पूर्ण यौवन मे सुरूप और प्रिय लगने लगा।

७. उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भाँति उसके साथ सुरम्य प्रासाद मे क्रीडा करने लगा।

८. वह कभी एक बार प्रासाद के झरोखे मे बैठा हुआ था। उसने वध्य-जनोचित मण्डनो से शोभित[1] वध्य को नगर से बाहर ले जाते हुए देखा।

---

१. **वध्य-जनोचित मडनों से शोभित—इन शब्दों में एक प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है। प्राचीन काल में चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती थी, उसके गले में कणेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती, उसे लाल कपड़े पहनाए जाते, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता और उसे सारे नगर में घुमाते हुए उसके वध्य होने की जानकारी देते हुए उसे श्मशान की ओर ले जाया जाता था।**

९. उसे देख वैराग्य मे भीगा हुआ समुद्रपाल यों बोला—"अहो ! यह अशुभ कर्मों का दुःखद अवसान है।"

१०. वह ज्ञानी समुद्रपाल परम वैराग्य को प्राप्त हुआ और सबुद्ध बन गया। उसने माता-पिता को पूछकर साधुत्व स्वीकार किया।

११. मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करनेवाली कृष्ण व भयावह आसक्ति को छोड कर पर्याय-धर्म (प्रव्रज्या), व्रत और शील तथा परीषहों में अभिरुचि ले।

१२. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान मुनि वीतराग-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. सुसमाहित-इन्द्रिय वाला भिक्षु सब जीवो के प्रति दयानुकम्पी रहे। वह क्षमा-भाव से कुवचनों को सहने वाला, संयत और ब्रह्मचारी हो। वह सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

१४ मुनि अपने बलाबल को तोलकर कालोचित कार्य करता हुआ राष्ट्र में विहरण करे। वह सिंह की भाँति भयावह शब्दो से संत्रस्त न हो। वह कुवचन सुन असभ्य वचन न बोले।

१५. संयमी मुनि कुवचनो की उपेक्षा करता हुआ परिव्रजन करे। प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे। जो कुछ देखे उसी की अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा की भी अभिलाषा न करे।

१६. ससार में मनुष्यो मे जो अनेक अभिप्राय होते है वस्तु-वृत्त्या वे भिक्षु में भी होते हैं। किन्तु भिक्षु उन पर अनुशासन करे और साधुपन में देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी भय पैदा करनेवाले भीषण-भीषणतम उपसर्ग उत्पन्न हो, उन्हें सहन करे।

१७. जहाँ अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहाँ बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने, जैसे—संग्राम-शीर्ष (मोर्चे) पर नागराज व्यथित नही होता।

१८. शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतक जब देह का स्पर्श करें तब मुनि शान्त भाव से उन्हें सहन करे, पूर्वकृत कर्मों को क्षीण करे।

१९. विचक्षण भिक्षु राग, द्वेष और मोह का सतत त्याग कर, वायु से मेरु की भाँति अकम्पमान होकर तथा आत्म-गुप्त बनकर परीषहो को सहन करे।

२०. पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होनेवाला महर्षी मुनि उनमें लिप्त न हो। अलिप्त रहने वाला वह विरत संयमी आर्जव को स्वीकार कर निर्वाण मार्ग को प्राप्त होता है।

२१. जो अरति और रति को सहने वाला, परिचय को क्षीण करने वाला, अकर्त्तव्य से विरत रहने वाला, आत्म-हित करने वाला तथा सयमवान् होता है, वह छिन्न-शोक, अभय और अकिंचन होकर परमार्थ-पदो में स्थित होता है।

२२. त्रायी मुनि महायशस्वी ऋषियो द्वारा आचीर्ण, अलिप्त और बीज आदि से रहित एकान्त स्थानों का सेवन करे तथा काया से परीषहों को सहन करे।

२३. सद्ज्ञान से ज्ञान-प्राप्त करने वाला महर्षी मुनि अनुत्तर धर्म-सचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अतरिक्ष में सूर्य की भाँति दीप्तिमान् होता है।

२४. समुद्रपाल सयम मे निश्चल और सर्वतः मुक्त होकर, पुण्य और पाप दोनो को क्षीण कर तथा विशाल ससार-प्रवाह को समुद्र की भाँति तैर कर अपुनरागम-गति (मोक्ष) मे गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

बाईसवाँ अध्ययन

रथनेमीय

१. सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणो से युक्त वसुदेव नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।

२. उसके रोहिणी और देवकी नामक दो भार्याएँ थी। उन दोनो के राम और केशव—ये दो प्रिय पुत्र थे।

३. सोरियपुर नगर मे राज-लक्षणो से युक्त समुद्रविजय नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।

४. उसके शिवा नामक भार्या थी। उसके भगवान् अरिष्टनेमि नामक पुत्र हुआ। वह लोकनाथ एव जितेन्द्रियो मे प्रधान था।

५. वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणो से युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणो का धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था।

६. वह वज्रऋषभ सहनन[1] और समचतुरस्र सस्थान[2] वाला था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था। केशव ने उसके लिए भार्या के रूप मे राजीमती कन्या की माँग की।

७. वह राजकन्या सुशील, मनोहर-चितवन वाली, स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणो से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

---

१. सहनन का अर्थ है—अस्थि-बन्धन। सुदृढतम अस्थि-बन्धन का नाम है—'वज्रऋषभनाराच सहनन'। विशेष व्याख्या के लिए देखें—उत्तराध्ययन (स-टिप्पण सस्करण)।

२. सस्थान का अर्थ है—शरीर की आकृति। पालथी मार कर बैठे हुए जिस व्यक्ति के चारों कोण सम होते है, वह 'समचतुरस्र सस्थान' है। विशेष व्याख्या के लिए देखें—उत्तराध्ययन (स-टिप्पण सस्करण)।

८. उसके पिता उग्रसेन ने महान् ऋद्धिमान् वासुदेव से कहा—"कुमार यहाँ आए तो मैं अपनी कन्या दे सकता हूं।"

९. अरिष्टनेमि को सर्व औषधियो के जल से नहलाया गया, कौतुक[1] और मगल किये गए, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभरणो से विभूषित किया गया।

१०. वासुदेव के मतवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती[2] पर आरूढ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की भाँति बहुत सुशोभित हो रहा था।

११. अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र-चामरों से सुशोभित और दसार-चक्र[3] से सर्वतः परिवृत था।

१२. यथाक्रम सजाई हुई चतुरगिनी-सेना और वाद्यो के गगन-स्पर्शी दिव्यनाद—

१३. ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति के साथ वह वृष्णि-पुङ्गव[4] अपने भवन से चला।

१४. मार्ग में जाते हुए उसने भय से संत्रस्त, बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध, अत्यन्त दुःखित प्राणियो को देखा।

१५. वे मरणासन्न दशा को प्राप्त थे और मासाहार के लिए खाए जाने वाले थे। उन्हें देखकर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि से इस प्रकार कहा—

१६. "सुख की चाह रखने वाले ये सब प्राणी किसलिए इन बाड़ो और पिंजरो में रोके हुए है ?"

१७. सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनो को खिलाने के लिए यहाँ रोके हुए हैं।"

१८. सारथि का बहुत जीवो के वध का प्रतिपादक वचन सुन कर जीवो के प्रति सकरुण उस महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—

१९. "यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवो का वध होने वाला है तो यह परलोक मे मेरे लिए श्रेयस्कर नही होगा।"

---

१. कौतुक—विवाह आदि मंगल-कार्यों में किया जाने वाला नेक-चार।
२. गन्धहस्ती—श्रेष्ठ हाथी, जिसकी गंध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं।
३. दसार-चक्र—दस यादवों का समूह। देखें—उत्तराध्ययन (सटिप्पण संस्करण)।
४. वृष्णि-पुंगव—वृष्णिकुल का प्रधान पुरुष।

२०. उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुण्डल, करधनी और सारे आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये ।

२१. अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए। उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थी।

२२. देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिविका-रत्न में आरूढ़ हुआ। द्वारका से चल कर वह रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुआ।

२३. अरिष्टनेमि सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर उत्तम शिबिका से नीचे उतरा। भगवान् ने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र मे निष्क्रमण किया।

२४. समाहित अरिष्टनेमि ने सुगन्ध से सुवासित, सुकुमार और घुँघराले बालों का पचमुष्टि से अपने-आप तुरन्त लोच किया।

२५. वासुदेव ने लुप्त-केश और जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—"दमीश्वर ! तुम अपने इच्छित-मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

२६. "तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति और मुक्ति से बढो।"

२७. इस प्रकार राम, केशव, दसार तथा दूसरे बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी लौट आए।

२८. अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुन कर राजकन्या राजीमती अपनी हँसी, खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

२९. राजीमती ने सोचा—मेरे जीवन को धिक्कार है, जो अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्त हूँ। अब मेरे लिए प्रव्रजित होना ही श्रेय है।

३०. धीर एवं कृत-निश्चय राजीमती ने कूर्च व कघी से सँवारे हुए भौरे जैसे काले केशो का अपने-आप लुञ्चन किया।

३१. वासुदेव ने लुप्त-केशा और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—"हे कन्ये ! तू घोर संसार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।"

३२. शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित हो कर द्वारका मे बहुत स्वजन और परिजन को प्रव्रजित किया।

३३. वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच मे वर्षा से भीग गई। वर्षा हो रही थी, अंधेरा छाया हुआ था, उस समय वह गुफा मे ठहर गई।

३४. चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने नग्नरूप मे देखा। वह भग्न-चित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५. एकान्त में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढाँक कर कांपती हुई बैठ गई।

३६ उस समय समुद्रविजय के अगज राज-पुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देख कर यह वचन कहा—

३७. "भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ। सुरूपे ! चारुभाषिणि ! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु ! तुझे कोई पीडा नही होगी।

३८. "आ, हम भोग भोगें। निश्चित ही मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है। भुक्त-भोगी हो, फिर हम जिन-मार्ग पर चलेगे।"

३९ रथनेमि को सयम मे उत्साहहीन और भोगो से पराजित देख कर राजीमती सम्भ्रान्त नही हुई। उसने वही अपने शरीर को वस्त्रो से ढंक लिया।

४०. नियम और व्रत मे सुस्थित राजवर-कन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

४१. "यदि तू रूप से वैश्रमण है, लालित्य से नलकूबर है और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मै तुझे नही चाहती।

"(अगधन कुल मे उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख-अग्नि में प्रवेश कर जाते है परन्तु —जीने के लिए—वमन किए हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नही करते।)

४२. "हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

४३. "मैं भोज-राज की पुत्री हूं और तू अन्धक-वृष्णि का पुत्र। हम कुल मे गन्धन सर्प की तरह न हो। तू स्थिर मन होकर सयम का पालन कर।

४४. "यदि तू स्त्रियो को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा।

४५. 'जैसे गोपाल और भाण्डपाल गायो और किराने के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा।

"(तू क्रोध और मान का निग्रह कर। माया और लोभ पर सब प्रकार से विजय पा। इन्द्रियों को अपने अधीन बना। अपने शरीर का उपसहार कर— उसे अनाचार से निवृत्त कर।)"

४६. संयमिनी के इन सुभषित वचनों को सुन कर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अकुश से हाथी होता है।

४८. वह मन, वचन और काया से गुप्त, जितेन्द्रिय तथा दृढव्रती हो गया। उसने फिर आजीवन निश्चल भाव से श्रामण्य का पालन किया।

४८. उग्र-तप का आचरण कर वे दोनो (राजीमती और रथनेमि) केवलि हुए और सब कर्मों को खपा अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।

४६. सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते है—वे भोगो से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुआ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेईसवाँ अध्ययन

केशि-गौतमीय

१. पार्श्व नाम के जिन हुए। वे अर्हन्, लोक-पूजित, संबुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे।

२. लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् पार्श्व के केशी नामक शिष्य हुए। वे महान् यशस्वी, विद्या और आचार के पारगामी कुमार-श्रमण थे।

३. वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-सम्पदा से तत्त्वों को जानते थे। वे शिष्य-सघ से परिवृत होकर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती मे आए।

४. उस नगर के पार्श्व में 'तिंदुक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या (मकान) और सस्तार (आसन) लेकर वे ठहर गए।

५. उस समय भगवान् वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन और समूचे लोक में विश्रुत थे।

६. लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्धमान के गौतम नाम के शिष्य थे। वे महान् यशस्वी, भगवान् तथा विद्या और आचार के पारगामी थे।

७. वे बारह अगो को जानने वाले और बुद्ध थे। शिष्य-संघ से परिवृत होकर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे भी श्रावस्ती मे आ गए।

८. उस नगर के पार्श्व-भाग मे 'कोष्ठक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या और सस्तार लेकर वे ठहर गए।

९. कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों वहाँ विहार कर रहे थे। वे आत्म-लीन और मन की समाधि से सम्पन्न थे।

१०. उन दोनों के शिष्य-समूह सयत, तपस्वी, गुणवान् और त्रायी थे। वहाँ उनके मन में एक तर्क उत्पन्न हुआ।

११. यह हमारा धर्म कैसा है और यह उनका धर्म कैसा है ? आचार-धर्म[1] की व्यवस्था यह हमारी कैसी है और वह उनकी कैसी है ?

१२. जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पच-शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

१३. महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक[2] है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह अतरीय और उत्तरीय वस्त्र वाली है। जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले है तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?

१४. उन दोनो—केशी और गौतम ने अपने-अपने शिष्यों की वितर्कणा को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५. गौतम ने विनय की मर्यादा का औचित्य देखा। केशी का कुल ज्येष्ठ था, इसलिए वे शिष्य-सघ को साथ लेकर तिदुक वन मे चले आए।

१६. कुमार-श्रमण केशी ने गौतम को आए देख कर सम्यक् प्रकार से उनका उपयुक्त आदर किया।

१७. उन्होने तुरत ही गौतम को बैठने के लिए प्रासुक पयाल[3] और पाँचवीं कुश नाम की घास दी।

१८. चन्द्र और सूर्य के समान शोभा वाले कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनो बैठे हुए शोभित हो रहे थे।

१९. वहाँ कौतूहल को ढूंढने वाले दूसरे-दूसरे सम्प्रदायो के अनेक साधु आए और हजारो-हजार गृहस्थ आए।

२०. देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतो का वहाँ मेला-सा हो गया।

२१. 'हे महाभाग ! मै तुम्हे पूछता हूं'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—

---

१ आचार-धर्म—वेष-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप।

२. भगवान् महावीर ने अचेल (निर्वस्त्र) या केवल अल्पमूल्य के सफेद वस्त्र वाले धर्म का निरूपण किया। भगवान् पार्श्वनाथ ने सन्तरुत्तर धर्म का निरूपण किया। अन्तर का अर्थ है—अन्तरीय (अधोवस्त्र) और उत्तर का अर्थ है—उत्तरीय (ऊपर का वस्त्र)।

३. पयाल—चार प्रकार के अनाजों के डठल।

२२. 'भते ! जैसी इच्छा हो वैसे पूछो।' केशी ने प्रश्न करने की अनुज्ञा पाकर गौतम से इस प्रकार कहा—

२३. 'जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पच-शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

२४. 'एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! धर्म के इन दो प्रकारो में तुम्हे सन्देह कैसे नही होता ?

२५. केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—'धर्म के परम अर्थ की, जिसमे तत्त्वो का विनिश्चय होता है, समीक्षा प्रज्ञा से होती है ।

२६. 'पहले तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते है । अतिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड होते है। बीच के तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते है, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए है।

२७. 'पहले तीर्थंकर के साधुओ के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। अतिम तीर्थंकर के साधुओ के लिए मुनि के आचार का पालन करना कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते है और उसका पालन भी सफलता से करते है ।'

२८ 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

२९. 'महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अन्तरीय और उत्तरीय वस्त्र वाली है।'

३०. 'एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारो मे तुम्हे सदेह कैसे नही होता ? '

३१. केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—'विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनो—उपकरणो की अनुमति दी गई है।

३२ 'लोगा को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणो की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हू', ऐसा ध्यान आते रहना—वेष धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं।

३३. 'यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि मे उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।'

३४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

३५. 'गौतम ! तुम हजारो-हजारों शत्रुओं के बीच खड़े हो। वे तुम्हे जीतने के लिए तुम्हारे सामने आ रहे हैं। तुमने उन्हें कैसे पराजित किया है ?'

३६. 'एक को जीत लेने पर पांच जीते गए। पांच को जीत लेने पर दस जीते गए। दसो को जीत लेने पर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूं।'

३७. 'शत्रु कौन कहलाता हैं?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

३८. 'एक न जीती हुई आत्मा ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियां शत्रु है। मुने ! मैं उन्हें जीत कर नीति के अनुसार विहार कर रहा हू।'

३९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।'

४०. 'इस ससार में बहुत जीव पाश से बन्धे हुए दीख रहे हैं। मुने ! तुम पाश से मुक्त और पवन की तरह प्रतिबध-रहित होकर कैसे विहार कर रहे हो ?'

४१. 'मुने ! उन पाशो को सर्वथा काट कर, उपायो से विनष्ट कर मैं पाश-मुक्त और प्रतिबन्ध-रहित होकर विहार करता हूँ।'

४२. 'पाश किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४३ 'प्रगाढ राग-द्वेष और स्नेह भयकर पाश है। मैं उन्हे काट कर मुनि-धर्म की नीति और आचार के साथ विहार करता हूं।'

४४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

४५. 'गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न जो लता है जिसके विष-तुल्य फल लगते हैं, उसे तुमने कैसे उखाड़ा ?'

४६. 'उस लता को सर्वथा काट कर, जड से उखाड कर मै मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूं, इसलिए मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूँ।'

४७. 'लता किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४८. 'भव-तृष्णा को लता कहा गया है। वह भयकर है और उसमें भयकर फलों का परिपाक होता है। महामुने ! मैं उसे उखाड कर मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूँ।'

४९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५०. 'गौतम ! घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं। उन्हे तुमने कैसे बुझाया ?'

५१. 'महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूँ। वे सींची हुई अग्नियाँ मुझे नही जलाती।'

५२. 'अग्नि किन्हे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५३. 'कषायो को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे मुझे नहीं जलाती।'

५४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा ! तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५५. 'यह साहसिक, भयकर, दुष्ट अश्व दौड रहा है। गौतम ! तुम उस पर चढे हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग मे कैसे नही ले जाता ?'

५६ 'मैंने इसे श्रुत की लगाम मे बाँध लिया है। यह जब उन्मार्ग की ओर दौडता है तब मैं इस पर रोक लगा देता हूँ। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नही जाता, मार्ग मे ही चलता है।'

५७. 'अश्व किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५८. 'यह जो साहसिक, भयकर, दुष्ट अश्व दौड रहा है, वह मन है। उसे मैं भली-भाँति अपने अधीन रखता हूँ। धर्म-शिक्षा द्वारा वह उत्तम-जाति का अश्व हो गया है।'

५९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।'

६०. 'लोक मे कुमार्ग बहुत है, जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नही भटकते ?'

६१. 'जो मार्ग से चलते है और जो उन्मार्ग से चलते है, वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने ! इसलिए मैं नही भटक रहा हूँ।'

६२. 'मार्ग किसे कहा गया है ?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले —

६३. 'जो कुप्रवचन के व्रती है, वे सब उन्मार्ग की ओर जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योकि वह सबसे उत्तम मार्ग है।'

६४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६५. 'मुने ! महान जल-प्रवाह के वेग से बहते हुए जीवो के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो ?'

६६ 'जल के मध्य मे एक लम्बा-चौडा महाद्वीप है। वहाँ महान् जल-प्रवाह की गति नही है।'

६७ 'द्वीप किसे कहा गया है ?'--केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६८. 'जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।'

६९. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

७०. 'महा प्रवाह वाले समुद्र मे नौका तीव्र गति से चली जा रही है। गौतम ! तुम उसमे आरूढ हो। उस पार कैसे पहुच पाओगे ?'

७१. 'जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नही जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नही होती, वह उस पार चली जाती है।'

७२ 'नौका किसे कहा गया है ?'--केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले--

७३. 'शरीर को नौका, जीव को नाविक और ससार को समुद्र कहा गया है। महान् मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते है।'

७४. 'गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

७५. 'लोगो को अन्ध बनाने वाले घोर तिमिर मे बहुत लोग रह रहे हैं। इस समूचे लोक मे उन प्राणियो के लिए प्रकाश कौन करेगा ?'

७६. 'समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक मे प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा।'

७७. 'भानु किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७८. 'जिसका ससार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, वह अर्हत्-रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा।'

७९. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम! उसके विषय मे भी तुम मुझे बतलाओ।

८० 'मुने! शारीरिक और मानसिक दुःखो से पीडित हुए प्राणियो के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो?'

८१. 'लोक के अग्रभाग मे एक वैसा शाश्वत स्थान है जहाँ पहुच पाना कठिन है और जहाँ नही है—जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।'

८२. 'स्थान किसे कहा गया है?'—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

८३. 'जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते है,

८४. 'भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक के शिखर मे शाश्वत रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है, उसे मै स्थान कहता हूं।'

८५. 'गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। हे सशयातीत! हे सर्वसूत्र-महोदधि! मै तुम्हे नमस्कार करता हूँ।'

८६-८७ इस प्रकार सशय दूर होने पर घोर-पराक्रम वाले केशी ने महान् यशस्वी गौतम का सिर से अभिनन्दन कर पचमहाव्रतात्मक धर्म को भावना से स्वीकार किया। वे पूर्व मार्ग से सुखावह पश्चिम मार्ग मे प्रविष्ट हुए।

८८ उस वन मे होने वाला केशी और गौतम का सतत मिलन श्रुत और शील का उत्कर्ष करने वाला और महान् प्रयोजन वाले अर्थों का विनिश्चय करने वाला था।

८९ जिनकी गति-विधि से सारी परिषद् को सन्तोष हुआ और वह सन्मार्ग पर उपस्थित हुई, वे परिषद् द्वारा प्रशसित भगवान् केशी और गौतम प्रसन्न हो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

चौबीसवां अध्ययन

प्रवचन-माता

१. आठ प्रवचन-माताएँ[1] है—समिति और गुप्ति। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन।

२. ईर्या-समिति, भाषा समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति, उच्चार-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवी काय-गुप्ति है।

३. ये आठ समितियां[2] सक्षेप में कही गई हैं। इनमे जिन-भाषित द्वादशाङ्ग रूप प्रवचन समाया हुआ है।

४. सयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध गति से चले।

५. उनमे ईर्या का आलम्बन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसका काल दिवस है और उत्पथ का वर्जन करना उसका मार्ग है।

६. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। वह मैं कह रहा हूँ, सुनो।

७. द्रव्य से—आँखो से देखे। क्षेत्र से—युग-मात्र[3] भूमि को देखे। काल से—जब तक चले तब तक देखे। भाव से—उपयुक्त (गमन में दत्तचित्त) रहे।

---

१. प्रवचन-माता—पाँच समितियो और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा निर्ग्रन्थ प्रवचन समा जाता है इसलिए अथवा इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है इसलिए इन्हें प्रवचन-माता कहा जाता है।

२. समितियाँ केवल पाँच ही हैं किन्तु यहाँ आठ समितियों का उल्लेख हुआ है। तीन गुप्तियो को समिति के अतर्गत मानने का कारण यह है कि गुप्तियाँ केवल निवृत्यात्मक ही नहीं होतीं किन्तु प्रवृत्यात्मक भी होती हैं। इसी अपेक्षा से उन्हें समिति कहा गया है।

३. युग-मात्र—शरीर या गाड़ी के जुए जितनी लबी।

८. इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो उसे प्रमुख बना उपयोग पूर्वक चले।

९. क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सावधान रहे—इनका प्रयोग न करे।

१० प्रज्ञावान् मुनि इन आठ स्थानो का वर्जन कर यथासमय निरवद्य और परिमित वचन बोले।

११ आहार, उपधि और शय्या के विषय में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा—इन तीनो का विशोधन करे।

१२. यतनाशील यति प्रथम एषणा (गवेषणा-एषणा) में उद्गम और उत्पादन—दोनो का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषो का शोधन करे और परिभोगैषणा मे दोष-चतुष्क[1] का शोधन करे।

१३. मुनि ओघ-उपधि[2] और औपग्रहिक-उपधि[3]—दोनो प्रकार के उपकरणो को लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे—

१४. सदा सम्यक्-प्रवृत्त और यतनाशील यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर उन्हें ले और रखे।

१५. उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल मे उत्सर्ग करे।

१६. स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—

१. अनापात-असंलोक—जहाँ लोगो का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों।

२ अनापात-संलोक—जहाँ लोगो का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दीखते हो।

३. आपात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन हो किन्तु वे दूर से न दीखते हो।

---

१. संयोजना, अप्रमाण, अगार-धूम और कारण—ये चार दोष हैं।

२. ओघ-उपधि—स्थायी रूप से रखा जाने वाला सामान्य उपकरण।

३. औपग्रहिक-उपधि—विशेष कारण वश रखा जाने वाला उपकरण।

४. आपात-संलोक—जहाँ लोगो का आवागमन भी हो और वे दूर से दिखते भी हो।

१७. जो स्थण्डिल अनापात-असलोक, दूसरे के लिए अनुपघातकारी, सम, पोल या दरार रहित, कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—

१८. कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अगुल की निर्जीव परत वाला, गाँव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजो से रहित हो—उसमे उच्चार आदि का उत्सर्ग करे।

१९. ये पाँच समितियाँ सक्षेप मे कही गई हैं। यहाँ से क्रमशः तीन गुप्तियाँ कहूँगा।

२०. सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार मनो-गुप्ति के चार प्रकार हैं।

२१. यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान मन का निवर्तन करे।

२२. सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा—इस प्रकार वचन-गुप्ति के चार प्रकार है।

२३. यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे।

२४. यतनाशील यति बैठने, लेटने, उल्लघन-प्रलघन करने और इन्द्रियो के व्यापार मे—

२५. सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्तमान काया का निवर्तन करे।

२६. ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए है और तीन गुप्तियाँ सब अशुभ विषयो से निवृत्ति करने के लिए है।

२७ जो पडित मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व ससार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पचीसवाँ अध्ययन

यज्ञीय

१. ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न एक महान् यशस्वी विप्र था। वह जीव-संहारक यज्ञ मे लगा रहता था। उसका नाम था जयघोष।

२ वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला मार्ग-गामी महामुनि हो गया। एक गाँव से दूसरे गाँव जाता हुआ वह वाराणसी पुरी पहुँच गया।

३. वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान मे प्रासुक शय्या और बिछौना लेकर वहाँ रहा।

४. उसी समय उस पुरी मे वेदो को जानने वाला विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ करता था।

५. वह जयघोष मुनि एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षा लेने को उपस्थित हुआ।

६. यज्ञ-कर्त्ता ने वहाँ उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—"भिक्षो! तुम्हे भिक्षा नही दूगा, और कहीं याचना करो।

७-८. "हे भिक्षो! यह सबके द्वारा अभिलषित भोजन उन्ही को देना है जो वेदो को जानने वाले विप्र है, यज्ञ के लिए जो द्विज है, जो वेद के ज्योतिष आदि छहों अगो[1] को जानने वाले है, जो धर्म-शास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपना और पर का उद्धार करने मे समर्थ हैं।"

९. वह उत्तम अर्थ (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला महामुनि वहाँ यज्ञकर्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही।

१० न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के साधन के लिए किन्तु उन ब्राह्मणो की विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

---

१. वेद के छह अंग ये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष।

११. "तू वेद के मुख को नही जानता। यज्ञ का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता। नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नही जानता।

१२ "जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हे तू नहीं जानता। यदि जानता है तो बता।"

१३. मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछा—

१४. "तुम कहो, वेदो का मुख क्या है ? यज्ञ का जो मुख है वह तुम्ही बतलाओ। तुम कहो, नक्षत्रो का मुख क्या है ? धर्मों का मुख क्या है, तुम्ही बतलाओ।

१५. "जो अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु ! यह मुझे सारा सशय है, तुम मेरे प्रश्नो का समाधान दो।"

१६. "वेदो का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञो का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्मों का मुख काश्यप—ऋषभदेव है।

१७. "जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोडे हुए, वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे।

१८. "जो यज्ञ-वादी हैं वे ब्राह्मण की सम्पदा—विद्या से अनभिज्ञ हैं। वे बाहर में स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढँके हुए है जिस प्रकार अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।

१९. "जिसे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भाँति सदा लोक में पूजित है, उसे हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते है।

२०. "जो आने पर आसक्त नही होता, जाने के समय शोक नही करता, जो आर्य-वचन मे रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२१. "अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

"(जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसके मास और शोणित का अपचय हो चुका है, जो सुव्रत है, जो शांत है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।)

२२. "जो त्रस और स्थावर जीवो को भलीभाँति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२३. "जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२४. "जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यो न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नही लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२५. "जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च संबधी मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२६. "जिस प्रकार जल मे उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नही होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण मे उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२७. "जो लोलुप नही है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थो में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

"(जो पूर्व-सयोगो, ज्ञाति-जनो की आसक्ति और बाधवों को छोड़ कर उनमे आसक्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।)

२८ "जिनके शिक्षा-पद पशुओ को बलि के लिए यज्ञ-स्तूपो में बाँधे जाने के हेतु बनते है, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञ-कर्त्ता को त्राण नही देते, क्योकि कर्म बलवान् होते है।

२९ "केवल सिर मूड लेने से कोई श्रमण नही होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नही होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नही होता।

३०. "समभाव की साधना करने मे श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना - मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

३१. "मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

३२. "इन तत्त्वो को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मो से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

३३. "इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते है, वे ही अपना और पर का उद्धार करने मे समर्थ है।"

३४. इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भली-भाँति समझा और—

३५. महामुनि जयघोष से सतुष्ट हो, हाथ जोड कर इस प्रकार कहा— "तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

३६. "तुम यज्ञों के यज्ञकर्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगो को जानते हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।

३७. "तुम अपना और पर का उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।"

३८. "मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नही है। हे द्विज ! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार कर, जिससे भय के आवर्त्तों से आकीर्ण इस घोर ससार-सागर में तुझे चक्कर लगाना न पडे।

३९. "भोगों में उपलेप होता है। अभोगी लिप्त नही होता। भोगी ससार मे भ्रमण करता है। अभोगी इससे मुक्त हो जाता है।

४०. "मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा—फेंके गए। दोनों भीत पर गिरे। जो गीला था वह वहाँ चिपक गया।

४१. "इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगो में आसक्त होते हैं, वे विषयो से चिपट जाते हैं। जो विरक्त होते हैं, वे उनसे नही चिपटते, जैसे सूखा गोला।"

४२. इस प्रकार वह विजयघोष जयघोष अनगार के समीप अनुत्तर धर्म सुन कर प्रव्रजित हो गया।

४३. जयघोष और विजयघोष ने संयम और तप के द्वारा पूर्व सचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

छब्बीसवाँ अध्ययन

सामाचारी

१. मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस सामाचारी का निरूपण करूँगा, जिसका आचरण कर निर्ग्रन्थ संसार-सागर को तर गये।

२. पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रतिपृच्छना—

३. पाँचवीं छन्दना, छठी इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार, आठवीं तथाकार—

४. नौवीं अभ्युत्थान, दसवी उपसंपदा। भगवान् ने इस दश अंग वाली साधुओं की सामाचारी का निरूपण किया है।

५. (१) स्थान से बाहर जाते समय आवश्यकी करे—'आवस्सही' का उच्चारण करे।

(२) स्थान मे प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—'निस्सिही' का उच्चारण करे।

(३) अपना कार्य करने से पूर्व आपृच्छा करे—गुरु से अनुमति ले।

(४) एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय प्रतिपृच्छा करे—गुरु से पुनः अनुमति ले।

६. (५) पूर्व-गृहीत द्रव्यो से छन्दना करे—गुरु आदि को निमन्त्रित करे।

(६) सारणा (औचित्य से कार्य करने और कराने) में इच्छाकार का प्रयोग करे—आप की इच्छा हो तो मैं आप का अमुक कार्य करूँ। आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें।

(७) अनाचरित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करे।

(८) प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे।

७. (९) गुरु-पूजा (आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओ) के लिए अभ्युत्थान करे—आहार आदि लाए।

(१०) दूसरे गण के आचार्य आदि के पास रहने के लिए उपसम्पदा ले—मर्यादित काल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करे ।

इस प्रकार दश-विध सामाचारी का निरूपण किया गया है ।

८. सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग मे भाण्ड-उपकरणो की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर गुरु को वन्दना कर—

९. हाथ जोड कर पूछे—अब मुझे क्या करना चाहिये ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्य या स्वाध्याय मे से किसी एक कार्य मे नियुक्त करे ।

१०. वैयावृत्य मे नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्य अथवा सर्व दु:खो से मुक्त करने वाले स्वाध्याय मे नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।

११. विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे । उन चार भागो मे उत्तर-गुणो (स्वाध्याय आदि) की आराधना करे ।

१२. पहले प्रहर मे स्वाध्याय और दूसरे मे ध्यान करे । तीसरे मे भिक्षाचरी और चौथे मे पुन: स्वाध्याय करे ।

१३. आषाढ मास मे दो पाद प्रमाण, पौष मास मे चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है ।

१४. सात दिन-रात मे एक अगुल, पक्ष मे दो अगुल और एक मास मे चार अगुल वृद्धि और हानि होती है ।[1]

१५. आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख – इनके कृष्ण-पक्ष मे एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है ।

१६. ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण इस प्रथम-त्रिक मे छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय-त्रिक मे आठ, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय-त्रिक मे दश और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख इस चतुर्थ-त्रिक मे आठ अगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है ।

१७. विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे । उन चारो भागो में उत्तर-गुणो की आराधना करे ।

---

१. श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है ।

१८. पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९. जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह (नक्षत्र) जब आकाश के चतुर्थ भाग मे आये (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

२०. वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल[1] आया हुआ जानकर फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।

२१. दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे।

२२. पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किये बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे।

२३. मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे। गोच्छग को अगुलियो से पकड कर भाजन को ढाँकने के पटलो की प्रतिलेखना करे।

२४. सबसे पहले ऊकडू आसन मे बैठ, वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किये बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु मे देखे। दूसरे में वस्त्र को झटकाए और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे।

२५. प्रतिलेखना करते समय (१) वस्त्र या शरीर को न नचाए (२) न मोड़े (३) वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे (४) वस्त्र का भीत आदि से स्पर्श न करे (५) वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और (६) जो कोई प्राणी हो उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे।

२६. मुनि प्रतिलेखना के छह दोषो का वर्जन करे—

(१) आरभटा—विधि मे विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किये बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकडना कि उसके बीच मे सलवटें पड़ जाँय अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठ कर प्रतिलेखना करना।

---

१. वैरात्रिक काल—रात का चौथा प्रहर।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना ।

(४) प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज-लिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना ।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रो को अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊँचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके ।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व मे हाथ रखना अथवा घुटनो को भुजाओं के बीच रखना ।

२७. मुनि प्रतिलेखना के निम्न दोषो का वर्जन करे—

(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकडना ।

(२) प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकडने के कारण कोनों का लटकना ।

(३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना ।

(४) एकामर्शा—वस्त्रों को बीच में से पकड कर उसके दोनों पार्श्वों का एक बार मे ही स्पर्श करना—एक दृष्टि मे ही समूचे वस्त्रको देख लेना ।

(५) अनेक रूप धूनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रो को एक साथ झटकना ।

(६) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना ।

(७) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण मे शङ्का होने पर उसकी गिनती करना ।

२८. वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून-अनतिरिक्त और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीनों विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते है। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून-अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त ।

२९. जो प्रतिलेखना करते समय काम-कथा करता है अथवा जन-पद की कथा करता है अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वय पढ़ता है—

३०. वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहो कायों का विराधक होता है।

[प्रतिलेखना में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहो कायों का आराधक होता है।]

३१. छह कारणो मे से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में मुनि भक्त-पान की गवेषणा करे—

३२. (१) वेदना (क्षुधा) शान्ति के लिए।
(२) वैयावृत्य के लिए।
(३) ईर्या समिति के शोधन के लिए।
(४) सयम के लिए।
(५) जीवित रहने के लिए।
(६) धर्म-चिन्तन के लिए।

३३. धृतिमान् साधु और साध्वी इन छह कारणो से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे उनके सयम का अतिक्रमण न हो।

३४. (१) रोग होने पर।
(२) उपसर्ग आने पर।
(३) ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) के लिए।
(४) प्राणियो की दया के लिए।
(५) तप के लिए।
(६) शरीर-विच्छेद के लिए।

३५. सब (भिक्षोपयोगी) भाण्डोपकरणो को ग्रहण कर चक्षु से उनकी प्रतिलेखना करे और दूसरे गांव मे भिक्षा के लिये जाना आवश्यक हो तो अधिक से अधिक अर्ध-योजन प्रदेश तक जाए।

३६. चौथे प्रहर में भाजनो को प्रतिलेखन पूर्वक बाँधकर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे।

३७. चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग मे पौन पौरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर शय्या की प्रतिलेखना करे।

३८. यतनाशील यति फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व-दुखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

३९. ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी दैवसिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४० कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे।

४१. प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४२. कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मङ्गल करके काल की प्रतिलेखना करे।

४३. पहले प्रहर मे स्वाध्याय[1], दूसरे मे ध्यान, तीसरे में नीद और चौथे मे पुनः स्वाध्याय करे।

४४. चौथे प्रहर मे काल की प्रतिलेखना कर असयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

४५. चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग मे गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर काल की प्रतिलेखना करे।

४६. सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला काय-व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) का समय आने पर सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४७. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४८. कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे।

४९. प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५०. मैं कौन-सा तप ग्रहण करूँ—कायोत्सर्ग मे ऐसा चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे।

---

१. स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर।

५१. कायोत्सर्ग पारित होने पर मुनि गुरु को वन्दना करे। फिर तप को स्वीकार कर सिद्धो का संस्तव (स्तुति) करे।

५२. यह सामाचारी मैंने सक्षेप मे कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव ससार-सागर को तर गये।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

सताईसवाँ अध्ययन

खलुंकीय

१. एक गर्ग नामक मुनि हुआ। वह स्थविर, गणधर और शास्त्र-विशारद था। वह गुणो से आकीर्ण गणी पद पर स्थित होकर समाधि का प्रतिसन्धान करता था।

२. वाहन को वहन करते हुए बैल के अरण्य स्वय उल्लंघित हो जाता है, वैसे ही योग को वहन करते हुए मुनि के संसार स्वय उल्लघित हो जाता है।

३. जो अयोग्य बैलो को जोतता है वह उनको आहत करता हुआ क्लेश पाता है। उसे असमाधि का सवेदन होता है और उसका चाबुक टूट जाता है।

४. वह क्रुद्ध हुआ वाहक किसी एक की पूछ को काट देता है और किसी एक को बार-बार बीघता है। तब कोई अयोग्य बैल जुए की कील को तोड़ उत्पथ में प्रस्थान कर जाता है।

५. कोई एक पार्श्व से गिर पडता है, कोई बैठ जाता है तो कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई उछलता है तो कोई शठ तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

६. कोई धूर्त बैल शिर को निढाल बना कर लुट जाता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे की ओर चलता है। कोई मृतक-सा बन कर गिर जाता है तो कोई वेग से दौड़ता है।

७. छिनाल वृषभ रास को छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड देता है और सों-सो कर वाहन को छोड कर भाग जाता है।

८. जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते है, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यो को धर्म-यान मे जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं।

९. कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता का गौरव करता है तो कोई चिरकाल तक क्रोध रखने वाला होता है।[1]

१०. कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है तो कोई अपमान-भीरु और अहंकारी होता है। किसी को गुरु हेतुओं व कारणों द्वारा अनुशासित करते हैं—

११. तब वह बीच में ही बोल उठता है, मन में द्वेष ही प्रकट करता है तथा बार-बार आचार्य के वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है।

१२. (गुरु प्रयोजनवश किसी श्राविका से कोई वस्तु लाने को कहे, तब वह कहता है) वह मुझे नहीं जानती, वह मुझे नहीं देगी, मैं जानता हूं वह घर से बाहर गई होगी। इस कार्य के लिए मैं ही क्यों, कोई दूसरा साधु चला जाए।

१३. किसी कार्य के लिए उन्हें भेजा जाता है तो वह कार्य किये बिना ही लौट आते हैं। पूछने पर कहते हैं—उस कार्य के लिए आपने हमसे कब कहा था? वे चारों ओर घूमते हैं, किन्तु गुरु के पास कभी नहीं बैठते। कभी गुरु का कहा कोई काम करते है तो उसे राजा की बेगार की भाँति मानते हुए मुँह को मचोट लेते है।

१४. (आचार्य सोचते हैं) मैने उन्हे पढाया, दीक्षित किया, भक्त-पान से पोषित किया, किन्तु कुछ योग्य बनने पर ये वैसे ही बन गये हैं, जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं मे प्रक्रमण कर जाते हैं—दूर-दूर उड़ जाते हैं।

१५. कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर आचार्य सोचते हैं—इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल होती है।

१६. जैसे मेरे शिष्य है वैसे ही गली-गर्दभ होते है। इन गली-गर्दभों को छोड कर गर्गाचार्य ने दृढता के साथ तप: मार्ग को अंगीकार किया।

१७. वह मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरने लगा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. ऋद्धि, रस और साता गौरव के लिए देखें—३१।४ का टिप्पण।

अठाईसवां अध्ययन

मोक्ष-मार्ग-गति

१ चार कारणो से सयुक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली, जिन-भाषित मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो।

२. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप --यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।

३. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप —इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते है।

४. ज्ञान पाँच प्रकार का है श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन: ज्ञान और केवल ज्ञान[1]।

५. यह पाँच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायो का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियो ने बतलाया है।

६. जो गुणो का आश्रय होता है, वह द्रव्य है। जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण[2] होते है। द्रव्य और गुण दोनो के आश्रित रहना पर्याय का लक्षण है।

---

१. (क) श्रुत ज्ञान--आगम या अन्य शास्त्रो से अथवा शब्द, सकेत आदि से होने वाला ज्ञान।
(ख) आभिनिबोधिक ज्ञान--वर्तमानग्राही इन्द्रिय-ज्ञान।
(ग) अवधि ज्ञान—मूर्त्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान।
(घ) मनःज्ञान (मनःपर्यव ज्ञान) —मानसिक ज्ञान। मन के पर्यायो को साक्षात् करने वाला ज्ञान।
(ङ) केवल ज्ञान - निरावरण ज्ञान। सम्पूर्ण ज्ञान।
(विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन (सटिप्पण सस्करण)।

२. गुण—द्रव्य का सहभावी धर्म, व्यवच्छेदक धर्म।

७. धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव---ये छह द्रव्य है। यह षट्-द्रव्यात्मक जो है वही लोक है---ऐसा वरदर्शी अर्हतो ने प्ररूपित किया है।

८. धर्म, अधर्म, आकाश---ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव---ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त है।

९. धर्म का लक्षण है गति, अधर्म का लक्षण है स्थिति और आकाश सर्व द्रव्यो का भाजन है। उसका लक्षण है अवकाश।

१०. वर्तना काल का लक्षण है। जीव का लक्षण है उपयोग। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दु:ख से जाना जाता है।

११. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग---ये जीव के लक्षण है।

१२. शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श---ये पुद्गल के लक्षण है।

१३. एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग और विभाग---ये पर्यायो के लक्षण है।

१४. जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष---ये नौ तथ्य (तत्त्व) है।

१५ इन तथ्य भावो के सद्भाव[1] के निरूपण मे जो अन्त:करण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व होता है। उस अन्त करण की श्रद्धा को ही भगवान् ने सम्यक्त्व कहा है।

१६. वह दस प्रकार का है---निसर्ग-रुचि[2], उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

१७ जो परोपदेश के बिना केवल अपनी आत्मा से उपजे हुए यथार्थ ज्ञान से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आश्रव और सवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है।

१८. जो जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थो पर स्वय ही---"यह ऐसा ही है अन्यथा नही है'---ऐसी श्रद्धा रखता हैं, उसे निसर्ग-रुचि वाला जानना चाहिए।

१९. जो दूसरो---छद्मस्थ या जिन---के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावो पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश-रुचि वाला जानना चाहिए।

---

१. सद्भाव---वास्तविक अस्तित्व।
२. रुचि---सत्य की श्रद्धा, सम्यक्त्व।

२०. जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है ।

२१. जो अग-प्रविष्ट या अग-बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है ।

२२. पानी मे डाले हुए तेल की बूद की तरह जो सम्यक्त्व एक पद से अनेक पदो में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए ।

२३. जिसे ग्यारह अग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुत-ज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, वह अभिगम-रुचि है ।

२४. जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणो और सभी नय-विधियो से उपलब्ध हैं, वह विस्तार-रुचि है ।

२५. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्त आदि क्रियाओं में जिनकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है ।

२६. जो जिन-प्रवचन में विशारद नही है और अन्यान्य प्रवचनो का अभिज्ञ भी नही है, किन्तु जिसे कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण स्वल्प मात्रा से जो तत्त्व-श्रद्धा प्राप्त होती है, उसे सक्षेप-रुचि जानना चाहिए ।

२७. जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म मे श्रद्धा रखता है, उसे धर्म-रुचि जानना चाहिए ।

२८. परमार्थ का परिचय, जिन्होंने परमार्थ को देखा है उनकी सेवा, सम्यक्त्व से भ्रष्ट और कुदर्शनी व्यक्तियो का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है ।

२९. सम्यक्त्व-विहीन चारित्र नही होता । सम्यक्त्व मे चारित्र की भजना है । सम्यक्त्व और चारित्र एक साथ उत्पन्न होते हैं और जहाँ वे एक साथ उत्पन्न नही होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है ।

३० असम्यक्त्वी के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नही होता । ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नही होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नही होती । अमुक्त का निर्वाण नही होता ।

३१. निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अंग हैं।[1]

३२. चारित्र पाँच प्रकार के होते हैं: पहला—सामायिक, दूसरा—छेदोपस्थापनीय, तीसरा—परिहार-विशुद्धि, चौथा—सूक्ष्म-सम्पराय और—

३३. पाँचवाँ—यथाख्यात-चारित्र कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली—दोनों के होता है। ये सभी चारित्र कर्म-सचय को रिक्त करते हैं, इसीलिए इन्हें चारित्र कहा जाता है।

३४. तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का कहा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर-तप छह प्रकार का है।

३५. जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

३६. सर्व दुःखों से मुक्ति पाने का लक्ष्य रखने वाले महर्षि सयम और तप के द्वारा पूर्व-कर्मों का क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. (१) निःशंका—जिन-भाषित तत्त्व के प्रति असंदेहशीलता।
(२) निष्कांक्षा—एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों के स्वीकार की अनिच्छा।
(३) निर्विचिकित्सा—धर्म-फल में असंदेह।
(४) अमूढदृष्टि—मोहमयी दृष्टि का अभाव।
(५) उपबृंहण—सम्यग्-दर्शन की पुष्टि।
(६) स्थिरीकरण—धर्म-मार्ग से विचलित व्यक्तियों को पुनः धर्म में स्थिर करना।
(७) वात्सल्य—सार्धमिकों के प्रति वत्सल भाव।
(८) प्रभावना—जिन शासन की महिमा बढ़ाना।

२. पांच प्रकार के चारित्र के विवरण के लिए देखें (उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण)।

उनतीसवाँ अध्ययन

सम्यक्त्व-पराक्रम

सू० १. आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे कश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का अध्ययन कहा है, जिस पर भलीभाँति श्रद्धा कर, प्रतीति कर, रुचि रख कर, स्मृति मे रख कर, समग्र रूप से हस्तगत कर, गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का बोध प्राप्त कर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर बहुत जीव सिद्ध होते है, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते है, परिनिर्वाण होते है और सब दु:खो का अत करते है। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ इस प्रकार कहा गया है, जैसे—

१. सवेग
२. निर्वेद
३. धर्म-श्रद्धा
४. गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा
५. आलोचना
६ निन्दा
७. गर्हा
८. सामायिक
९. चतुर्विशति-स्तव
१०. वदन
११. प्रतिक्रमण
१२. कायोत्सर्ग
१३. प्रत्याख्यान
१४. स्तव-स्तुति-मगल
१५. काल-प्रतिलेखन
१६. प्रायश्चित्तकरण

१७. क्षामणा
१८. स्वाध्याय
१९. वाचना
२०. प्रतिप्रच्छना
२१. परावर्त्तना
२२. अनुप्रेक्षा
२३. धर्म-कथा
२४. श्रुताराधना
२५. एकाग्र-मन की स्थापना
२६. सयम
२७. तप
२८ व्यवदान
२९. सुख की स्पृहा का त्याग
३०. अप्रतिबद्धता
३१ विविक्त-शयनासन-सेवन
३२. विनिवर्त्तना
३३. सम्भोग-प्रत्याख्यान
३४. उपधि-प्रत्याख्यान
३५ आहार-प्रत्याख्यान
३६. कषाय-प्रत्याख्यान
३७. योग-प्रत्याख्यान
३८. शरीर-प्रत्याख्यान
३९. सहाय-प्रत्याख्यान
४०. भक्त-प्रत्याख्यान
४१. सद्भाव-प्रत्याख्यान
४२. प्रतिरूपता
४३. वैयावृत्त्य
४४. सर्वगुण-सम्पन्नता
४५. वीतरागता
४६. क्षांति
४७. मुक्ति

४८. आर्जव
४९. मार्दव
५०. भाव-सत्य
५१. करण-सत्य
५२. योग-सत्य
५३. मनो-गुप्तता
५४. वाक्-गुप्तता
५५. काय-गुप्तता
५६. मन·समाधारणा
५७. वाक्-समाधारणा
५८. काय-समाधारणा
५९. ज्ञान-सम्पन्नता
६०. दर्शन-सम्पन्नता
६१. चारित्र-सम्पन्नता
६२. श्रोत्रेद्रिय-निग्रह
६३. चक्षुरिद्रिय-निग्रह
६४. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह
६५. जिह्वेन्द्रिय-निग्रह
६६. स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह
६७. क्रोध-विजय
६८. मान-विजय
६९. माया-विजय
७०. लोभ-विजय
७१. प्रेयो-द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय
७२. शैलेशी
७३. अकर्मता

भन्ते ! सवेग[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सवेग से वह अनुत्तर धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा सेशीघ्र ही और अधिक सवेग को प्राप्त करता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध,

---

१. संवेग—मोक्ष की अभिलाषा ।

मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का संग्रह नही करता। कषाय से क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक्-श्रद्धान) की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कई उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

सू०२. भन्ते ! निर्वेद[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगो मे ग्लानि को प्राप्त होता है। सब विषयो से विरक्त हो जाता है। सब विषयो से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता हुआ ससार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।

सू०३ भन्ते ! धर्म-श्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-श्रद्धा से वह वैषयिक सुखो की आसक्ति छोड विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन, सयोग-वियोग आदि शारीरिक और मानसिक दुखो का विच्छेद करता है और निर्बाध (बाधा-रहित) सुख को प्राप्त करता है।

सू०४. भन्ते ! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त करता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नही होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्-योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति से सम्बन्ध जोडता है। सिद्धि और सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यो को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियो को विनय के पथ पर ले आता है।

सू०५. भन्ते ! आलोचना[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आलोचना से वह अनन्त ससार को बढाने वाले, मोक्ष-मार्ग मे विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या-दर्शन—इन तीनो शल्यो को निकाल फेकता है और ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त

---

१. निर्वेद—भव-वैराग्य।

२. आलोचना—गुरु के सम्मुख अपनी भूलों का निवेदन करना।

हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री-वेद और नपुंसक-वेद कर्म का बन्ध नही करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हो तो उनका क्षय कर देता है।

सू०६. भन्ते ! निंदा[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निंदा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम-धारा को प्राप्त करता है। वैसी परिणाम-धारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय-कर्म को क्षीण कर देता है।

सू०७. भन्ते ! गर्हा[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गर्हा से वह अनादर को प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियो से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियो को अगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियो को क्षीण करत है।

सू०८. भन्ते ! सामायिक[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति को प्राप्त होता है।

सू०९. भन्ते ! चतुर्विंशति-स्तव[4] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चतुर्विंशति-स्तव से वह सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त करता है।

सू०१०. भन्ते ! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वन्दना से वह नीचे-कुल मे उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है; ऊँचे-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्म का अर्जन करता है और जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करे वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।

सू०११. भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिक्रमण से वह व्रत के छेदो को ढँक देता है। जिसने व्रत के छेदो को ढँक दिया वैसा जीव आश्रवो को रोक देता है, चारित्र के धब्बो को मिटा देता है, आठ प्रवचन-माताओ में सावधान हो जाता है, संयम मे एक-रस हो जाता है और भली-भाँति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

सू०१२. भन्ते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

---

१. निन्दा—अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करना।
२. गर्हा—दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करना।
३. सामायिक—समभाव की साधना।
४. चतुर्विंशति-स्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति स्वस्थ हृदय वाला —हलका हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

सू० १३. भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारो (कर्म-बन्धन के हेतुओ) का निरोध करता है।

सू० १४. भन्ते ! स्तव और स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्तव और स्तुति रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, बोधि और चारित्र के बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवो में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

सू० १५. भन्ते ! काल-प्रतिलेखना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काल-प्रतिलेखना से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

सू० १६. भन्ते ! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रायश्चित्त करने से वह पाप-मार्ग की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक्-प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

सू० १७. भन्ते ! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो के साथ मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

सू० १८. भन्ते ! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

---

१. काल-प्रतिलेखना—स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान करना।

सू०१९. भन्ते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है -- वह गणधर की भाँति शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है।

सू०२०. भन्ते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित सन्देहों का निवर्त्तन करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म का विनाश करता है।

सू०२१. भन्ते ! परावर्त्तना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

परावर्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है--स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि[2] को प्राप्त होता है।

सू०२२. भन्ते ! अनुप्रेक्षा[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अनुप्रेक्षा से वह आयुष्-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बन्धन में बँधी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बंधन वाली कर देता है; उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प-कालीन कर देता है; उनके तीव्र अनुभाव को मंद कर देता है, उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनंत लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी को तुरंत ही पार कर जाता है।

सू०२३ भन्ते ! धर्म-कथा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-कथा से वह प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

सू०२४ भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रुत की आराधना से वह अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है।

---

१. परावर्त्तना -- पठित-पाठ का पुनरावर्तन।

२. व्यंजन-लब्धि -- वर्ण-विद्या। एक व्यञ्जन के आधार पर शेष व्यञ्जनों को प्राप्त करने वाली क्षमता।

३. अनुप्रेक्षा -- अर्थ-चिन्तन।

सू०२५. भन्ते ! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

एकाग्र-मन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है ।

सू०२६. भन्ते ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संयम से वह आश्रव का निरोध करता है ।

सू०२७. भन्ते ! तप से जीव क्या प्राप्त करता है ?

तप से वह व्यवदान[1] को प्राप्त होता है ।

सू०२८. भन्ते ! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

व्यवदान से वह अक्रिया[2] को प्राप्त होता है। वह अक्रियावान् होकर सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दुःखो का अन्त करता है ।

सू०२९. भन्ते ! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सुख की स्पृहा का निवारण करने से वह विषयो के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है। विषयो के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशान्त और शोक-मुक्त होकर चारित्र को विकृत करने वाले मोह-कर्म का क्षय करता है ।

सू०३०. भन्ते ! अप्रतिबद्धता[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अप्रतिबद्धता से वह असग हो जाता है—बाह्य ससर्गों से मुक्त हो जाता है। असगता से जीव अकेला (राग-द्वेष रहित), एकाग्र-चित्त वाला, दिन और रात बाह्य-ससर्गों को छोड़ता हुआ प्रतिबन्ध रहित होकर विहरण करता है ।

सू०३१. भन्ते ! विविक्त[4]-शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है ?

---

१. व्यवदान—पूर्व-सचित कर्मों के क्षय से होने वाली विशुद्धि ।

२. अक्रिया—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध ।

३. अप्रतिबद्धता—मन की अनासक्ति ।

४. विविक्त—एकान्त, आवागमन रहित और स्त्री-पशु-वर्जित स्थान ।

विविक्त-शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ़ चरित्र वाला, एकांत में रत, अन्तःकरण से मोक्ष की साधना में लगा हुआ होता है। वह आठ प्रकार के कर्मों की गाँठ तोड़ देता है।

सू०३२. भन्ते ! विनिवर्तना[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विनिवर्तना से वह नए सिरे से पाप-कर्मों को नही करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-अर्जित पाप-कर्मों का क्षय कर देता है। इस प्रकार वह पाप-कर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार-गति रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी को पार कर जाता है।

सू०३३. भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान[2] करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोग-प्रत्याख्यान से वह परावलबन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा मे आस्वाद नही लेता, उसकी ताक नही रखता, उसकी स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त कर विहरण करता है।

सू०३४. भन्ते ! उपधि[3] के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नही होता।

सू०३५. भन्ते ! आहार-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नही होता है।

---

१. विनिवर्तना—इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखना।

२. सम्भोग-प्रत्याख्यान—मण्डली-भोजन का त्याग।

३. उपधि—वस्त्र आदि उपकरण।

सू०३६. भन्ते ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कषाय-प्रत्याख्यान से वह वीतराग-भाव को प्राप्त होता है। वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दु:ख में सम हो जाता है।

सू०३७. भंते ! योग[1] के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का अर्जन नही करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

सू०३८. भंते। शरीर के प्रत्याख्यान (देह-मुक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

शरीर के प्रत्याख्यान से वह मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है। मुक्त-आत्माओ के अतिशय गुणो को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर मे पहुँचकर परम सुखी हो जाता है।

सू०३९. भंते ! सहाय-प्रत्याख्यान[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहलपूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक-कलह से मुक्त, झगडे से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, सयम-बहुल, सवर-बहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

सू०४०. भंते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक सैकडो जन्म-मरणों का निरोध करता है।

सू०४१. भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति को प्राप्त होता है--मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति नहीं करता। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवली के विद्यमान चार कर्मों—वेदनीय, आयुष्, नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दु:खो का अत करता है।

---

१. योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति।

२. सहाय-प्रत्याख्यान—दूसरों के सहयोग का त्याग।

३. सद्भाव-प्रत्याख्यान—परमार्थरूप से होने वाला प्रत्याख्यान। पूर्ण संवर या शैलेशी अवस्था।

सू०४२. भंते ! प्रतिरूपता[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है। उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्तलिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प-प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।

सू०४३. भंते ! वैयावृत्त्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वैयावृत्त्य से वह तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का अर्जन करता है।

सू०४४. भंते ! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सर्व-गुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

सू०४५. भंते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ (और अमनोज्ञ) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है।

सू०४६. भंते ! क्षमा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सू०४७. भंते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मुक्ति से वह अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

सू०४८. भंते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवाद को प्राप्त होता है। अविसंवाद की वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

सू०४९. भंते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

---

१. प्रतिरूपता—अचेलकता।

सू०५०. भंते ! भाव-सत्य[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भाव-सत्य से वह भाव की विशुद्धि को प्राप्त होता है। भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तैयार होता है। अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना मे तत्पर होकर वह परलोक-धर्म का आराधक होता है।

सू०५१. भंते ! करण-सत्य[2] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

करण-सत्य से वह अपूर्व कार्य करने के सामर्थ्य को प्राप्त होता है। करण-सत्य मे वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है।

सू०५२. भंते ! योग-सत्य[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-सत्य से वह मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।

सू०५३. भंते ! मनोगुप्तता[4] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मनो-गुप्तता से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र-चित्त वाला जीव अशुभ संकल्पो से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

सू०५४. भंते ! वाग्-गुप्तता[5] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाग्-गुप्तता से वह निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार जीव वाग्-गुप्त, अध्यात्मयोग और ध्यान से गुप्त हो जाता है।

सू०५५ भंते ! काय-गुप्तता[6] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-गुप्तता मे वह संवर[7] को प्राप्त होता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला जीव फिर पाप-कर्म के उपादान-हेतुओ (आश्रवो) का निरोध कर देता है।

---

१. **भाव-सत्य—अन्तरात्मा की सचाई।**

२. **करण-सत्य—विहित-कार्य को सम्यक् प्रकार से और तन्मय होकर करना।**

३ **योग-सत्य—मन, वाणी और काया की सचाई।**

४. **मनोगुप्तता—कुशल मन की प्रवृत्ति।**

५. **वाग्-गुप्तता—कुशल वचन की प्रवृत्ति।**

६. **काय-गुप्तता—कुशल काया की प्रवृत्ति।**

७. **संवर—अशुभ प्रवृत्ति का निरोध।**

सू०५६. भंते ! मन-समाधारणा[1] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मन-समाधारणा से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों (ज्ञान के प्रकारों) को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक-दर्शन को विशुद्ध और मिथ्या-दर्शन को क्षीण करता है।

सू०५७. भंते ! वाक्-समाधारणा[2] से जीव क्या प्राप्त करता है।

वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषय-भूत दर्शन-पर्यवों को (सम्यक्-दर्शन के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त करता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

सूत्र०५८. भंते ! काय-समाधारणा[3] से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-समाधारणा से वह चरित्र-पर्यवों (चरित्र के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवली के विद्यमान चार कर्मों –आयुष्, वेदनीय, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दु:खों का अंत करता है।

सू०५९. भंते ! ज्ञान-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सपन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव ससार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

---

१. मन-समाधारणा—समाधारणा का अर्थ है—सम्यग्-व्यवस्थापन या नियोजन। मन का श्रुत में व्यवस्थापन या नियोजन करना मन-समाधारणा है।

२. वाक्-समाधारणा—वचन का स्वाध्याय में व्यवस्थापन या नियोजन।

३. काय-समाधारणा—काया का चारित्र की आराधना में व्यवस्थापन या नियोजन।

ज्ञान-संपन्न व्यक्ति अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय[1] और परसमय[2] की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

सू०६०. भंते ! दर्शन-संपन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दर्शन-संपन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

सू०६१. भंते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र-संपन्नता से वह शैलेशी-भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार केवली के विद्यमान चार कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अंत करता है।

सू०६२. भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६३. भन्ते! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६४ भन्ते ! घ्राण-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंधों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गंध-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६५. भन्ते ! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

---

१. स्वसमय—जैन सिद्धान्त।

२. परसमय—अन्यतीर्थिकों के सिद्धान्त।

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों मे होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बधन नही करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६६. भन्ते! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होनेवाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श-सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बधन नही करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६७. भन्ते! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्रोध-विजय से वह क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बन्धन नही करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६८. भन्ते! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

मान-विजय से वह मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बधन नही करता और पूर्व बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६९. भन्ते! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बधन नही करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७०. भन्ते! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

लोभ-विजय से वह सतोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बधन नही करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७१. भन्ते! प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव क्या प्राप्त करता है?

प्रेम, द्वेष, और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों मे जो कर्म-ग्रंथि[1] (घात्य-कर्म) है, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नही कर पाया उस अठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पाँच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार वाले अंतराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक

---

१. **कर्म-ग्रन्थि—घात्य-कर्म को ग्रन्थि कहा जाता है। घात्य-कर्म चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय।**

साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनंत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को उत्पन्न करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बंध होता है। वह बंध पुण्य-मय होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है और तीसरे समय मे वह निर्जीर्ण हो जाता है। वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय मे आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अंत मे अकर्म भी हो जाता है।[1]

सू०७२. केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य का निर्वाह करता है। जब अंतर-मुहूर्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग-निरोध करने मे प्रवृत्त होता है। उस समय 'सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपात' नामक शुक्ल-ध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनोयोग का निरोध करता है, फिर वचन-योग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक पाँच ह्रस्वाक्षरो (अ इ उ ऋ लृ) का उच्चारण किया जाए उतने काल तक 'समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति' नामक शुक्ल-ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चारो सत्कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

सू०७३. उसके अनन्तर ही औदारिक और कार्मण शरीर को पूर्ण अनस्तित्व के रूप में छोड कर वह मोक्ष स्थान मे पहुँच साकारोपयुक्त (ज्ञान-प्रवृत्ति काल) मे सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दु:खो का अंत करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी मे गति करता है। उसकी गति ऊपर को होती है, आत्म-प्रदेश जितने ही आकाश-प्रदेशो का स्पर्श करने वाली होती है और एक समय की होती है- ऋजु होती है।

सम्यक्त्व--पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आख्यात, प्रज्ञापित, प्ररूपित, दर्शित और उपदर्शित है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. कर्म-ग्रन्थि-भेदन की प्रक्रिया के विशेष विवरण के लिए देखें—(उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण)

तीसवाँ अध्ययन

तपो-मार्ग-गति

१. राग-द्वेष से अर्जित पाप-कर्म को भिक्षु तपस्या से जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।

२. प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है ।

३. पाँच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, गर्व रहित और नि.शल्य जीव अनाश्रव होता है ।

४. इनसे विपरीत आचरण मे राग-द्वेष से जो कर्म उपार्जित होता है, उसे भिक्षु जिस प्रकार क्षीण करता है, एकाग्र-मन होकर सुन ।

५. जिस प्रकार कोई बडा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है—

६. उसी प्रकार सयमी पुरुष के पाप-कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ो भवो के सचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते है ।

७. वह तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर ।

बाह्य तप छह प्रकार का है । उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है ।

८. (१) अनशन (२) ऊनोदरिका (३) भिक्षा-चर्या (४) रस-परित्याग (५) काय-क्लेश और (६) सलीनता— यह बाह्य तप है ।

९. अनशन दो प्रकार होता है—इत्वरिक और मरण-काल । इत्वरिक सावकाक्ष[1] और दूसरा निरवकाक्ष होता है ।

१०. जो इत्वरिक तप है, वह सक्षेप मे छह प्रकार का है—(१) श्रेणि-तप (२) प्रतर-तप (३) घन-तप (४) वर्ग तप—

११. (५) वर्ग-वर्ग-तप (६) प्रकीर्ण-तप ।

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनोवाछित फल देने वाला होता है ।

---

१. सावकांक्ष— भोजन की इच्छा से युक्त ।

१२. 'मरण-काल' अनशन के काय-चेष्टा के आधार पर सविचार[1] और अविचार[2]—ये दो भेद होते हैं।

१३. अथवा इसके दो-दो भेद ये होते हैं—सपरिकर्म[3] और अपरिकर्म[4]। अविचार अनशन के निर्हारी[5] और अनिर्हारी[6]—ये दो भेद होते है। आहार का त्याग दोनों (सविचार और अविचार तथा सपरिकर्म और अपरिकर्म) में होता है।

१४. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायो की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका) सक्षेप में पाँच प्रकार का है।

१५. जिसका जितना आहार है उससे कम खाता है, कम से कम एक धान्य-कण खाता है और अधिक से अधिक एक कवल कम खाता है, उसके द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

१६. ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेडा, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, सबाध—

१७. आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, सवर्त, कोट—

१८. पाडा, गलियाँ, घर—इनमे अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रो में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र मे भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

१९. (प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतग-वीथिका, शम्बूकावर्त्ता और आयतं-गत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

२०. दिवस के चार प्रहरो मे जितना अभिग्रह-काल हो उसमे भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्यथा नही—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है।

---

१. सविचार—गमनागमन सहित।
२. अविचार—गमनागमन रहित।
३. सपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना सहित।
४. अपरिकर्म शुश्रूषा या संलेखना रहित।
५. निर्हारी—उपाश्रय से बाहर किया जानेवाला अनशन।
६. अनिर्हारी—उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन।

२१. अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार)-काल से अवमौदर्य तप होता है।

२२. स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले—

२३. अमुक विशेष प्रकार की दशा, वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है।

२४. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जो पर्याय (भाव) कहे गए है, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है।

२५. आठ प्रकार के गोचराग्र तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षा-चर्या कहा जाता है।

२६. दूध, दही, घृत आदि प्रणीत पान-भोजन और रसो के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।

२७. आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनो का जो अभ्यास किया जाता है उसे कायक्लेश तप कहा जाता है।

२८. एकात, जहाँ कोई आता-जाता न हो और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन (सलीनता) तप है।

२९. यह बाह्य तप सक्षेप में कहा गया है। अब मै अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूंगा।

३०. प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह (छह प्रकार का) आभ्यन्तर तप है।

३१. आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

३२. अभ्युत्थान (खड़े होना), हाथ जोडना, आसन देना, गुरुजनो की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

३३. आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा जाता है।

३४. स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—

(१) वाचना (अध्यापन)

(२) पृच्छना

(३) परिवर्तना (पुनरावृत्ति)

(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन)

(५) धर्म-कथा ।

३५. सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुध-जन उसे ध्यान कहते हैं ।

३६. सोने, बैठने या खडे रहने के समय जो भिक्षु काया को नही हिलाता-डुलाता उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है । वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है ।

३७. इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनो प्रकार के तपो का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त ससार से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

इकतीसवाँ अध्ययन

चरण-विधि

१. अब मैं जीव को सुख देने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा जिसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए।

२. भिक्षु एक स्थान से निवृत्ति करे और एक स्थान मे प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति करे और सयम मे प्रवृत्ति करे।

३. राग और द्वेष—ये दो पाप, पाप-कर्म के प्रवर्तक है। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह ससार मे नही रहता।

४. जो भिक्षु तीन-तीन दण्डो[1], गौरवो[2] और शल्यो[3] का सदा त्याग करता है, वह ससार मे नही रहता।

५. जो भिक्षु देव, तिर्यञ्च और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह ससार मे नही रहता।

---

१. दंड का अर्थ है—आत्मा को दंडित करने वाली प्रवृत्ति। वे तीन हैं—
   १. मनोदंड—मन का दुष्प्रणिधान।
   २. वचोदंड—वचन की दुष्प्रयुक्तता।
   ३. कायदंड—काया की दुष्प्रवृत्ति।

२. गौरव का अर्थ है—अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। उसके तीन प्रकार है—
   १. ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान।
   २. रस गौरव—रसो का अभिमान।
   ३. सात गौरव—सुखों का अभिमान।

३. शल्य का अर्थ है—अंतर में घुसा हुआ दोष। शल्य तीन हैं—
   १. मायाशल्य—मायापूर्ण आचरण।
   २. निदानशल्य—भौतिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।
   ३. मिथ्यादर्शनशल्य—आत्मा का विपरीत दृष्टिकोण।

६. जो भिक्षु विकथाओ, कषायों, संज्ञाओं[1] तथा आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानो का सदा वर्जन करता है वह ससार में नही रहता ।

७. जो भिक्षु व्रतो और समितियो के पालन मे, इन्द्रिय-विषयों और क्रियाओ के परिहार में सदा यत्न करता है वह ससार में नहीं रहता ।

८. जो भिक्षु छह लेश्याओं, छह जीवनिकायों और आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणो[2] में सदा यत्न करता है वह ससार में नही रहता ।

९. जो[3] भिक्षु आहार-ग्रहण और स्थान-सम्बन्धी सात प्रतिमाओं मे तथा सात भय-स्थानो में सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१०. जो भिक्षु आठ मद-स्थानो मे, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नहीं रहता ।

११. जो भिक्षु उपासको की ग्यारह प्रतिमाओ तथा भिक्षुओ की बारह प्रतिमाओं में सदा यत्न करता है वह ससार में नही रहता ।

१२. जो भिक्षु तेरह क्रियाओ, चौदह जीव-समुदायो और पन्द्रह परमाधार्मिक देवो मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१३. जो भिक्षु गाथा-षोडशक[4] और सत्रह प्रकार के असयम मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१४. जो अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञात-अध्ययनो और बीस असमाधि-स्थानो मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१५. जो भिक्षु इक्कीस प्रकार के शबल-दोषों[5] और बाईस परीषहो में सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१६. जो भिक्षु सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो और चौबीस प्रकार के देवो में सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

---

१. संज्ञा—आसक्ति । वह चार प्रकार की है—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा ।

२. आहार के विधि-निषेध के लिए देखें—२६।३२,३४ ।

३. प्रस्तुत अध्ययन के नौवें श्लोक से बीसवें श्लोक के अन्तर्गत आए हुए संख्यावाचक विषयों के विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट ।

४. गाथा-षोडशक—सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययन ।

५. शबल-दोष—चारित्र को धब्बों से युक्त करने वाले दोष ।

१७. जो भिक्षु पचीस भावनाओ और दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार और बृहत्कल्प के छब्बीस उद्देशो में सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१८. जो भिक्षु साधु के सत्ताईस गुणो और अठाईस आचार-प्रकल्पो मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

१९. जो भिक्षु उनतीस पाप-श्रुत-प्रसगो और तीस मोह के स्थानो में सदा यत्न करता है वह ससार में नहीं रहता ।

२०. जो भिक्षु सिद्धो के इकतीस आदि-गुणो,[1] बत्तीस योग-संग्रहो[2] तथा तेतीस आशातनाओ[3] में सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता ।

२१. जो पण्डित भिक्षु इस प्रकार इन स्थानों मे सदा यत्न करता है वह शीघ्र ही समस्त ससार से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

---

१. देखें—उत्तराध्ययन सटिप्पण-संस्करण ।

२. मन वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते है । यहाँ प्रशस्त योगो का ही ग्रहण किया गया है । योग सग्रह का अर्थ है 'प्रशस्त योगो का एकत्रीकरण' । विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-सस्करण ।

३. आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार । दैनिक व्यवहारों के आधार पर उसके तेतीस विभाग किए गए हैं । विशेष विवरण के लिए देख—उत्तराध्ययन— सटिप्पण-संस्करण ।

बत्तीसवाँ अध्ययन

प्रमाद-स्थान

१ अनादि-कालीन सब दु:खो और उनके कारणों (कषाय-आदि) के मोक्ष का जो उपाय है वह मैं कह रहा हूँ। वह ध्यानके लिए हितकर है, अत: तुम प्रतिपूर्ण चित्त होकर मोक्ष के लिए सुनो।

२. सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

३. गुरु और स्थविर मुनियो की सेवा करना, अज्ञानी-जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है।

४. समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए और स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित घर में रहे।

५ यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापो का वर्जन करता हुआ, विषयो मे अनासक्त रह कर अकेला ही विहार करे।

६. जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

७ राग और द्वेष कर्म के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दु:ख का मूल कहा गया है।

८. जिसके मोह नही है, उसने दु:ख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नही, उसने मोहका नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसनेतृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नही है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

९. राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन-जिन उपायो का आलम्बन लेना चाहिए उन्हें मैं क्रमश: कहूँगा।

१०. रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११. जैसे पवन के झोंकों के साथ प्रचुर इंधन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नही होता, उसी प्रकार ठूस-ठूस कर खाने वाले की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नही होती। इसलिए अधिक मात्रा में भोजन करना किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नही होता।

१२. जो विविक्त-शय्या और आसन से नियन्त्रित होते हैं, जो कम खाते हैं और जितेन्द्रिय होते है उनके चित्त को राग-शत्रु वैसे ही आक्रान्त नही कर सकता जैसे औषध से पराजित रोग देह को।

१३. जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नही होता उसी प्रकार स्त्रियो की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता।

१४. तपस्वी श्रमण स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त मे रमा कर उन्हे देखने का सकल्प न करे।

१५. जो सदा ब्रह्मचर्य मे रत हैं उनके लिए स्त्रियो को न देखना, न चाहना, न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा धर्म्य-ध्यान के लिए उपयुक्त है।

१६. यह ठीक है कि तीन गुप्तियो से गुप्त मुनियो को विभूषित देवियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके विविक्त-वास को प्रशस्त कहा है।

१७. मोक्ष चाहने वाले ससार-भीरु एव धर्म मे स्थित मनुष्य के लिए लोक मे और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नही है जैसी दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियाँ हैं।

१८. जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियो का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुख से पार पाने योग्य हो जाती है जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गगा जैसी बड़ी नदी।

१९. सब जीवो के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अन्त पा जाता है।

२०. जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय क्षुद्र-जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

२१. समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियो के जो मनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे।

२२. चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

२३ चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

२४. जो मनोज्ञ रूपो मे तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे—प्रकाश-लोलुप पतगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५. जो अमनोज्ञ रूप मे तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। रूप उसका कोई अपराध नही करता।

२६. जो मनोहर रूप मे एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर रूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु.खात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

२७ मनोज्ञ रूप की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

२८. रूप मे अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नही मिलती।

२९. जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण मे आसक्त-उपसक्त होता है उसे सन्तुष्टि नही मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दु खी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरो की रूपवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

३०. वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

३१. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

३२. रूप मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है।

३३. इसी प्रकार जो रूप मे द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखो को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला अर्जित कर्म का बध करता है। वही परिणाम-काल मे उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

३४. रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नही होता वैसे ही वह ससार मे रह कर भी अनेक दुःखो की परम्परा से लिप्त नही होता।

३५. श्रोत्र का विषय शब्द है। जो शब्द राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दो मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

३६. श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है। शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो शब्द राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

३७. जो मनोज्ञ शब्दो मे तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे— शब्द मे अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु मृत्यु को प्राप्त होता है।

३८. जो अमनोज्ञ शब्द मे तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। शब्द उसका कोई अपराध नही करता।

३९ जो मनोहर शब्द मे एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द मे द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

४० मनोहर शब्द की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

४१. शब्द में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमे उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

४२. जो शब्द मे अतृप्त होता है उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सतुष्टि नही मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दु.खी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

४३. वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु:ख से मुक्त नही होता।

४४. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दु.खी होता है। उसका पर्यवसान भी दु.खमय होता है। इस प्रकार वह शब्द मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दु:खी और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. शब्द मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दु.ख प्राप्त करता है, उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दु:ख बना रहता है।

४६ इसी प्रकार जो शब्द मे द्वेष रखता है, वह उत्तरोतर अनेक दु:खों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल मे उसके लिए दु ख का हेतु बनता है।

४५. शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नही होता, वैसे ही वह संसार मे रह कर भी अनेक दु:खो की परम्परा से लिप्त नही होता।

४८. घ्राण का विषय गन्ध है। जो गन्ध राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धो मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

४६ घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

५०. जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधिओ के गन्ध मे गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

५१. जो अमनोज्ञ गन्ध में तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। गन्ध उसका कोई अपराध नही करता।

५२. जो मनोहर गन्ध में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर गन्ध मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

५३. मनोज्ञ गन्ध की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

५४ गन्ध मे अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उनका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब मे उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग काल मे भी उसे तृप्ति नही मिलती।

५५. जो गन्ध मे तृप्त होता है, उसके परिग्रहण मे आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नही मिलती। वह सन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की गन्धवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

५६ वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु.ख से मुक्त नही होता।

५७. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दु·खमय होता है। इस प्रकार वह गन्ध से अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दु.खी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८. गन्ध मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ होगा? जिस उपभोग के लिए वह दु ख प्राप्त करता है उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दु ख बना रहता है।

५६ इसी प्रकार जो गन्ध मे द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दु खो को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल मे उसके लिए दु·ख का हेतु बनता है।

६०. गन्ध से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता, वैसे ही वह ससार मे रहकर भी अनेक दु.खो की परम्परा से लिप्त नही होता।

६१ रसना का विषय रस है। जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

६२. रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

६३. जो मनोज्ञ रसो में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे—मास खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य कांटे से बीधा जाता है।

६४. जो अमनोज्ञ रस मे तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। रस उसका कोई अपराध नही करता।

६५ जो मनोहर रस में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है वह अज्ञानी दु:खात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उसमे लिप्त नही होता।

६६. मनोहर रस की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परितप्त और पीडित करता है।

६७. रस मे अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब मे उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नही मिलती।

६८ जो रस मे अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सतुष्टि नही मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दु:खी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

६९. वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु:ख से मुक्त नही होता।

७०. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दु:खी होता है। उसका पर्यवसान भी दु:खमय होता। इस प्रकार वह रस मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दु:खी और आश्रय-हीन हो जाता है।

७१. रस मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है ।

७२. इसी प्रकार जो रस मे द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखो को प्राप्त होता है । प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है । वही परिणाम-काल मे उसके लिए दुःख का हेतु बनता है ।

७३ रस से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है । जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता वैसे ही वह ससार में रह कर भी अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नही होता ।

७४. काय का विषय स्पर्श है । जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों मे समान रहता है वह वीतराग होता है ।

७५. काय स्पर्श का ग्रहण करता है । स्पर्श काय का ग्राह्य है । जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है ।

७६. जो मनोज्ञ स्पर्शो मे तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है । जैसे घड़ियाल के द्वारा पकडा हुआ, अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श मे मग्न बना रागातुर भैंसा ।

७७. जो अमनोज्ञ स्पर्श मे तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है । स्पर्श उसका कोई अपराध नही करता ।

७८. जो मनोहर स्पर्श मे एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है । इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता ।

७९. मनोहर स्पर्श की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है । अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परितप्त और पीडित करता है ।

८० स्पर्श मे अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है । उसका व्यय और वियोग होता है । इन सब मे उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल मे भी उसे तृप्ति नही मिलती ।

८१. जो स्पर्श में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे सतुष्टि नही मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दु:खी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की स्पर्शवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

८२. वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-द्वेष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु:ख से मुक्त नही होता।

८३. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दु खी होता है। उसका पर्यवसान भी दुख:मय होता है। इस प्रकार वह स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दु:खी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४. स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दु:ख प्राप्त करता है, उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दु·ख बना रहता है।

८५. इसी प्रकार जो स्पर्श मे द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दु:खो को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल मे उसके लिए दु·ख का हेतु बनता है।

८६. स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता वैसे ही वह ससार मे रह कर भी अनेक दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता।

८७. मन का विषय भाव (अभिप्राय) है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावो मे समान रहता है वह वीतराग होता है।

८८. मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

८९. जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे हथिनी के पथ मे आकृष्ट काम-गुणो मे गृद्ध बना हुआ हाथी।

९०. जो अमनोज्ञ भाव से तीव्र द्वेष करता है वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दु:ख को प्राप्त होता है। भाव उसका कोई अपराध नही करता।

९१. जो मनोहर भाव मे एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर भाव में में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता ।

९२. मनोहर भाव की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परितप्त और पीडित करता है ।

९३. भाव मे अनुरक्त और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब मे उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल मे भी उसे तृप्ति नही मिलती।

९४ जो भाव मे अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण मे आसक्त-उपसक्त होता है उसे सन्तुष्टि नही मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएँ चुरा लेता है ।

९५ वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण मे अतृप्त होता है । अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है । माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु ख से मुक्त नही होता ।

९६. असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दु खमय होता है। इस प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है ।

९७. भाव मे अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग मे भी अतृप्ति का दुःख बना रहता है ।

९८ इसी प्रकार जो भाव मे द्वेष रखता है वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखो को प्राप्त होता है । वह प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है । वही परिणाम-काल मे उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

९९. भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता वैसे ही वह ससार में रहकर भी अनेक दुःखो की परम्परा से लिप्त नही होता ।

१००. इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते है। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नही होते।

१०१. काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२. जो काम-गुणों मे आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भाव—

१०३. इस प्रकार अनेक प्रकार के विकारों तथा उनसे उत्पन्न अन्य परिणामो को प्राप्त होता है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

१०४ 'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'—इस लिप्सा से योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। साधु बन कर मैंने कितना कष्ट स्वीकार किया—इस प्रकार अनुताप व भोग-स्पृहयालु होकर तप के फल की इच्छा न करे। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरो का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित प्रकार के विकारो को प्राप्त होता है।

१०५ विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह-महार्णव मे डुबाने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते है। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बन कर उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

१०६ जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन मे मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नही करते।

१०७. 'अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषो के मूल है'— जो इस प्रकार के चिन्तन मे उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय-विषय दोषो के मूल नही है'—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन मे समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणो मे होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

१०८ फिर वह वीतराग सब दिशाओ मे कृतकृत्य होकर क्षण-भर मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

१०९ तत्पश्चात् वह सब कुछ जानता और देखता है तथा मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। अन्त मे वह आश्रव रहित और ध्यान के द्वारा समाधि मे लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११०. जो इस जीव को निरन्तर पीडित करता है उस अशेष दुःख और दीर्घकालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वह प्रशंसनीय, अत्यन्त सुखी और कृतार्थ हो जाता है।

१११. मैंने अनादिकालीन सब दुःखो से मुक्त होने का यह मार्ग बताया है। उसे स्वीकार कर जीव क्रमशः अत्यन्त सुखी हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

तेतीसवाँ अध्ययन

कर्म-प्रकृति

१. मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) उन आठ कर्मों का निरूपण करूँगा जिनसे बँधा हुआ यह जीव संसार में पर्यटन करता है।

२-३. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार सक्षेप में ये आठ कर्म है।

४. ज्ञानावरण पाँच प्रकार का है—

(१) श्रुत ज्ञानावरण
(२) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण
(३) अवधि ज्ञानावरण
(४) मनो ज्ञानावरण
(५) केवल ज्ञानावरण।

५. (१) निद्रा
(२) प्रचला
(३) निद्रा-निद्रा
(४) प्रचला-प्रचला
(५) स्त्यान-गृद्धि

६. (६) चक्षु-दर्शनावरण,
(७) अचक्षु दर्शनावरण,
(८) अवधि-दर्शनावरण और
(९) केवल-दर्शनावरण—इस प्रकार दर्शनावरण नौ प्रकार का है।

७. वेदनीय दो प्रकार का है—सात वेदनीय और असात वेदनीय। इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।

८ मोहनीय भी दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का और चारित्र मोहनीय दो प्रकार का होता है।

९. (१) सम्यक्त्व,
(२) मिथ्यात्व,
(३) सम्यग्-मिथ्यात्व—ये दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं।

१०. चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय।

११. कषाय मोहनीय कर्म के सोलह भेद होते है और नोकषाय मोहनीय कर्म के सात या नौ भेद होते है।

१२ आयु कर्म चार प्रकार का है-

(१) नैरयिक आयु
(२) तिर्यग् आयु
(३) मनुष्य आयु
(४) देव आयु।

१३. नाम-कर्म दो प्रकार का है—शुभ-नाम और अशुभ-नाम। इन दोनो के अनेक प्रकार है।

१४. गोत्र कर्म दो प्रकार का है उच्च गोत्र और नीच गोत्र। इन दोनो के आठ-आठ प्रकार है।

१५. अन्तराय कर्म सक्षेप मे पॉच प्रकार का है—

(१) दानान्तराय
(२) लाभान्तराय
(३) भोगान्तराय
(४) उपभोगान्तराय
(५) वीर्यान्तराय।

१६. कर्मो की ये ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतिया और श्रुत-ज्ञानावरण आदि सत्तावन उत्तर प्रकृतिया कही गई है। इसके आगे तू उनके प्रदेशाग्र (परमाणुओके परिमाण) क्षेत्र, काल और भाव का सुन।

१७. एक समय मे ग्राह्य सब कर्मो का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवो से अनन्त गुण अधिक और सिद्ध आत्माओ के अनन्तवे भाग जितना होता है।

१८. सब जीवो के सग्रह-योग्य पुद्गल छहो दिशाओ—आत्मा से संलग्न सभी आकाश प्रदेशो—मे स्थित है। वे सब कर्म-परमाणु बन्ध-काल मे एक आत्मा के सभी प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होते है।

१९-२० ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

२१. मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ।

२२. आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ।

२३. नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है ।

२४. कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं । सब अनुभागो का प्रदेश-परिमाण सब जीवों से अधिक होता है ।

२५. इन कर्मों के अनुभागो को जान कर बुद्धिमान् इनका निरोध और क्षय करने का यत्न करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

चौतीसवाँ अध्ययन

लेश्या-अध्ययन

१. मैं अनूपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूँगा। छहो कर्म-लेश्याओं के अनुभावो को तुम मुझसे सुनो।

२. लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को तुम मुझ से सुनो।

३. यथाक्रम से लेश्याओ के ये नाम है—(१) कृष्ण (२) नील (३) कपोत (४) तेजस (५) पद्म और (६) शुक्ल।

४. कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिष-शृ ग, द्रोण-काक, खञ्जन, अजन व नयन-तारा के समान होता है।

५. नील लेश्या का वर्ण नील अशोक, चाष पक्षी के परो व स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है।

६. कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कण्टक व कबूतर के ग्रीवा के समान होता है।

७. तेजो लेश्या का वर्ण हिगुल, गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है।

८. पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न हरिताल, भिन्न हल्दी, सण और असन के पुष्प के समान होता है।

९. शुक्ल लेश्या का वर्ण शख, अकमणि, कुन्द-पुष्प, दुग्ध-प्रवाह, चाँदी व मुक्ताहार के समान होता है।

१०. कडुवे तूम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा कडुवा होता है उससे भी अनन्त कडुवा रस कृष्ण लेश्या का होता है।

११. त्रिकटु और गजपीपल का रस जैसा तीखा होता है उससे भी अनन्त गुना तीखा रस नील लेश्या का होता है।

१२. कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसा कसैला होता है उससे भी अनन्त गुना कसैला रस कापोत लेश्या का होता है।

१३. पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जैसा खट-मीठा होता है। उससे भी अनन्त गुना खट-मीठा रस तैजो लेश्या का होता है।

१४. प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है उससे भी अनन्त गुना अम्ल रस पद्म लेश्या का होता है।

१५. खजूर, दाख, क्षीर, खाँड और शक्कर का रस जैसा मीठा होता है उससे भी अनन्त गुना मीठा रस शुक्ल लेश्या का होता है।

१६. गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की गन्ध जैसी होती है उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१७. सुगन्धित पुष्पो और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध होती है उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१८. करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्षों के पत्रो का स्पर्श जैसा कर्कश होता है उससे भी अनन्त गुना कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

१६. बूर, नवनीत और सिरीष के पुष्पो का स्पर्श जैसा मृदु होता है उससे भी अनन्त गुना मृदु स्पर्श तीनो प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

२०. लेश्याओ के तीन, नौ, सत्ताईश, इक्यासी या दो सौ तेतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

२१. जो मनुष्य पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्-काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—

२२. लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मन वाला है, नृशस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

२३. जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है—

२४. आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है वह नील लेश्या में परिणत होता है।

२५. जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्या-दृष्टि है, अनार्य है—

२६. हँसोड है, दुष्ट वचन बोलने वाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी प्रवृत्तियो से युक्त है वह कापोत लेश्या मे परिणत होता है ।

२७. जो मनुष्य नम्रता से बर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने मे निपुण है, दान्त है, समाधि-युक्त है, उपधान[1] करने वाला है—

२८. धर्म मे प्रेम रखता है, धर्म मे दृढ़ है, पाप-भीरु है, मुक्ति का गवेषक है—जा इन सभी प्रवृत्तियो मे युक्त है वह तेजो लेश्या में परिणत होता है ।

२६. जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प है, जो प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधि-युक्त है, उपधान करने वाला है—

३०. अत्यल्प भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियो से युक्त है वह पद्म लेश्या मे परिणत होता है ।

३१. जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—इन दोनो ध्यानो को छोड कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानो मे लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समितियो से समित है, गुप्तियो से गुप्त है—

३२. उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियो से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या मे परिणत होता है ।

३३. असख्येय अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, असख्यात लोको के जितने आकाश-प्रदेश होते है, उतने ही लेश्याओ के स्थान होते हैं ।

३४. कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति अतर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

३५. नील लेश्या की जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दश सागर की होती है ।

३६. कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक तीन सागर की होती है ।

३७. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दो सागर की होती है ।

३८. पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है ।

---

१. देखें—२।४३ का टिप्पण ।

३९. शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

४०. लेश्याओ की यह स्थिति ओघरूप (अपृथग्-भाव) से कही गई है। अब आगे पृथग्-भाव से चारो गतियो में लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४१. नारकीय जीवो के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक तीन सागर की होती है ।

४२. नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दश सागर की होती है ।

४३. कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती हैं ।

४४. यह नैरयिक जीवो के लेश्याओ की स्थिति का वर्णन किया गया है। इसमे आगे तिर्यंच, मनुष्य और देवो की लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४५ तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएँ होती हैं, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड कर शेष सब लेश्याओ की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त्त की होती है ।

४६. शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड पूर्व की होती है ।

४७. यह तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है । इससे आगे देवो की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४८. भवनपति और वाणव्यन्तर देवो के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग की होती है ।

४९. कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति होती है उसमे एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग जितनी है ।

५०. नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी है ।

५१. इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के तेजो लेश्या की स्थिति का निरूपण करूँगा।

५२. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दो सागर की होती है।

५३. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दो सागर की होती है।

५४. जो तेजो लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है उसमे एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अंत-र्मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है।

५५. जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है उसमे एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अतर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

५६. कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनो अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनो से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है।

५७. तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनो धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनो से जीव सुगति को प्राप्त होता है।

५८. पहले समय मे परिणत सभी लेश्याओ मे कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नही होता।

५९. अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओ मे कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नही होता।

६०. लेश्याओ की परिणति होने पर जब अतर्मुहूर्त्त बीत जाता है और अतर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक मे जाते है।

६१. इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागो को जान कर मुनि अप्रशस्त लेश्याओ का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओ को स्वीकार करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पैंतीसवाँ अध्ययन

अनगार-मार्ग-गति

१. तुम एकाग्र मन होकर बुद्धो (तीर्थंकरो) के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को मुझ से सुनो जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दु:खो का अंत कर देता है।

२. जो मुनि गृह-वास को छोड कर प्रव्रज्या को अगीकार कर चुका है वह उन आसक्तियों को जाने, जिनसे मनुष्य लिप्त होता है।

३. सयमी मुनि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ—इन सब का परिवर्जन करे।

४. जो स्थान मनोहर चित्रों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड सहित, श्वेत चन्दवा से युक्त हो वैसे स्थान की मन से भी अभिलाषा न करे।

५. काम-राग को बढाने वाले वैसे उपाश्रय में इंद्रियो पर नियन्त्रण पाना भिक्षु के लिए दुष्कर होता है।

६. इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान मे, शून्यगृह मे, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकात स्थान में रहने की इच्छा करे।

७. परम सयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध और स्त्रियो के उपद्रव से रहित स्थान मे रहने का संकल्प करे।

८-९. भिक्षु न स्वय घर बनाए और न दूसरो से बनवाए। गृह-निर्माण के समारम्भ मे जीवो—त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर—का वध देखा जाता है। इसलिए सयत भिक्षु गृह-समारम्भ का परित्याग करे।

१०. भक्त-पान के पकाने और पकवाने मे हिंसा होती है, अत: प्राणो और भूतों की दया के लिए भिक्षु न पकाए और न पकवाए।

११. भक्त और पान के पकाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का हनन होता है, इसलिए भिक्षु न पकवाए।

१२. अग्नि फैलने वाली, सब ओर से धार वाली और बहुत जीवो का विनाश करने वाली होती है। उसके समान दूसरा कोई शस्त्र नही होता इसलिए भिक्षु उसे न जलाए।

१३. क्रय और विक्रय से विरत, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चांदी की मन से भी इच्छा न करे ।

१४. वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक होता है और बेचने वाला वणिक् । क्रय और विक्रय करने मे वर्तन करने वाला भिक्षु वैसा नही होता—उत्तम भिक्षु नही होता ।

१५. भिक्षा-वृत्ति वाले भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, क्रय-विक्रय नही । क्रय-विक्रय महान् दोष है । भिक्षा-वृत्ति सुख को देने वाली है ।

१६. मुनि सूत्र के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ की एषणा करे । वह लाभ और अलाभ से सन्तुष्ट रहकर पिण्ड-पात (भिक्षा) की चर्या करे ।

१७. अलोलुप, रस मे अगृद्ध, जीभ का दमन करने वाला और अमूर्च्छित महामुनि स्वाद के लिए न खाए, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए खाए ।

१८. मुनि अर्चना, रचना[1], वन्दना, पूजा, ऋद्धि और सत्कार की मन से भी अभिलाषा न करे ।

१९. मुनि शुक्ल ध्यान ध्याए । अनिदान और अकिंचन रहे । वह जीवन-भर देहाध्यास मे मुक्त होकर विहरण करे ।

२०. समर्थ मुनि काल-धर्म के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग कर मनुष्य शरीर को छोड कर दु:खो से विमुक्त हो जाता है ।

२१. निर्मम, निरहकार, वीतराग और आश्रवो से रहित मुनि शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिर्वृत हो जाता है--सर्वथा आत्मस्थ हो जाता है ।

—ऐसा मै कहता हूं ।

---

१. रचना—अक्षत, मोती आदि का स्वस्तिक बनाना ।

छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीव-विभक्ति

१. तुम एकाग्र-मन होकर मेरे पास जीव और अजीव का वह विभाग सुनो जिसे जान कर श्रमण सयम मे सम्यक् प्रयत्न करता है।

२. यह लोक जीव और अजीवमय है। जहाँ अजीव का देश आकाश ही है उसे अलोक कहा गया है।

३. जीव और अजीव की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियो से होती है।

४ अजीव दो प्रकार का है --रूपी और अरूपी। अरूपी के दश और रूपी के चार प्रकार हैं।

५. धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश–

६ आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश तथा एक अध्वासमय (काल) - ये दस भेद अरूपी अजीव के होते हैं।

७. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण है। आकाश लोक और अलोक दोनो मे व्याप्त है। समय समय-क्षेत्र (मनुष्य-लोक) में ही होता है।

८ धर्म-अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य अनादि-अनन्त और सार्वकालिक होते है।

९ प्रवाह की अपेक्षा समय अनादि-अनन्त है। एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है।

१०. रूपी पुद्गल के चार भेद होते है – १-स्कन्ध २-स्कन्ध-देश ३-स्कन्ध-प्रदेश और ४-परमाणु।

११. अनेक परमाणुओ के एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथक्त्व होने से परमाणु बनते है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध) लोक के एक देश

और समूचे लोक में भाज्य हैं—असंख्य विकल्प युक्त हैं। अब उनका चतुर्विध काल-विभाग कहूँगा।

१२. वे (स्कन्ध और परमाणु) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है तथा स्थिति (एक क्षेत्र मे रहने) की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३. रूपी अजीवो (पुद्गलो) की स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टत: असंख्यात काल की होती है।

१४. उनका अंतर[1] जघन्यत: एक समय और उत्कृष्टत: अनन्त काल का होता है।

१५. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पाँच प्रकार का होता है।

१६. वर्ण की अपेक्षा से उनकी परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-कृष्ण २-नील, ३-रक्त, ४-पीत और ५-शुक्ल।

१७. गन्ध की अपेक्षा से उनकी परिणति दो प्रकार की होती है—१-सुगन्ध और २-दुर्गन्ध।

१८ रस की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१-तिक्त २-कटु ३-कसैला ४-खट्टा और ५-मधुर।

१९-२०. स्पर्श की अपेक्षा से उनकी परिणति आठ प्रकार की होती है—१-कर्कश, २-मृदु, ३-गुरु, ४-लघु, ५-शीत, ६-उष्ण, ७-स्निग्ध और ८-रूक्ष।

२१. संस्थान की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१-परिमण्डल, २-वृत्त, ३-त्रिकोण, ४-चतुष्क और ५-आयत।

२२. जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है वह गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (अनेक विकल्प युक्त) होता है।

२३. जो पुद्गल वर्ण से नील है वह गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२४. जो पुद्गल वर्ण मे रक्त है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२५. जो पुद्गल वर्ण से पीत है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

---

१. अंतर—स्वस्थान से स्खलित होकर वापिस आने तक का काल।

२६. जो पुद्गल वर्ण से श्वेत है वह गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

२७. जो पुद्गल गध से सुगन्ध वाला है वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

२८. जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्ध वाला है वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

२९. जो पुद्गल रस से तिक्त है वह वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३०. जो पुद्गल रस से कडुवा है वह वर्ण, गंध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३१. जो पुद्गल रस से कसैला है वह वर्ण, गध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३२. जो पुद्गल रस से खट्टा है वह वर्ण, गंध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३३. जो पुद्गल रस से मधुर है वह वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है

३४. जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है वह वर्ण, गध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३५. जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है वह वर्ण, गध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३६. जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३७. जो पुद्गल स्पर्श से लघु है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३८. जो पुद्गल स्पर्श से शीत है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य होता है।

३९. जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य होता है।

४०. जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४१. जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४२ जो पुद्गल सस्थान से परिमण्डल है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४३. जो पुद्गल सस्थान से वृत्त है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४४. जो पुद्गल सस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४५ जो पुद्गल सस्थान मे चतुष्कोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४६ जो पुद्गल सस्थान से आयत है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४७ यह अजीव-विभाग सक्षेप मे कहा गया है। अब अनुक्रम से जीव-विभाग का निरूपण करूंगा।

४८ जीव दो प्रकार के होते है—ससारी और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के होते है। मै उनका निरूपण करता हू तुम मुझ से सुनो।

४९ स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिग सिद्ध, नपुसकलिग सिद्ध, स्वलिग सिद्ध अन्यलिग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध आदि उनके अनेक प्रकार है।

५०. उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना[1] मे ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक मे तथा समुद्र व अन्य जलाशयो मे भी जीव सिद्ध होते है।

५१. दश नपुसक, बीस स्त्रियाँ और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण मे सिद्ध हो सकते है।

५२. गृहस्थ वेश मे चार, अन्यतीर्थिक वेश मे दस और निर्ग्रन्थ वेश मे एक सौ आठ जीव एक साथ सिद्ध हो सकते है।

५३ उत्कृष्ट अवगाहना मे दो, जघन्य अवगाहना मे चार मध्यम अवगाहना मे एक सौ आठ जीव एक ही क्षण मे सिद्ध हो सकते है।

५४ ऊँचे लोक मे चार, समुद्र मे दो, अन्य जलाशयो मे तीन, नीचे लोक मे बीस और तिरछे लोक मे एक सौ आठ जीव एक ही क्षण मे सिद्ध हो सकते है।

१. अवगाहना—शरीर की ऊँचाई।

५५. सिद्ध कहाँ रुकते हैं ? कहाँ स्थित होते हैं ? कहाँ शरीर को छोड़ते है ? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं।

५६. सिद्ध अलोक में रुकते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

५७. सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार मे अवस्थित है।

५८. उसकी लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौडाई) से तिगुनी है।

५९ मध्य भाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमशः पतली होती-होती अतिम भाग में मक्खी के पर से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।

६१. वह शख, अक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत्- प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अग्रभाग है।

६२. उस योजन के उपरले कोस के छठे भाग में सिद्धो की अवस्थिति होती है।

६३. अनन्त शक्तिशाली भव-प्रपच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले वहाँ लोक के अग्रभाग मे स्थित होते है।

६४. अतिम भव मे जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे एक तिहाई कम उसकी अवगाहना होती है।

६५. एक-एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त और बहुत्व की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

६६. वे सिद्ध-जीव अरूप, एक दूसरे से सटे हुए और ज्ञान-दर्शन सतत उपयुक्त होते है। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है जिसके लिए ससार मे कोई उपमा नहीं है।

६७. ज्ञान और दर्शन से सतत उपयुक्त, संसार-समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सब सिद्ध लोक के एक देश मे अवस्थित है।

६८. संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर तीन प्रकार के हैं—

६९. (१) पृथ्वी (२) जल और (३) वनस्पति। ये तीन स्थावर के मूल भेद हैं। इनके उत्तर भेद मुझ से सुनो।

७०. पृथ्वी-काय के जीव दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर। इन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते है।

७१. बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवो के दो भेद है—मृदु और कठोर। मृदु के सात भेद है :—

७२. (१) कृष्ण (२) नील (३) रक्त (४) पीत (५) श्वेत (६) पाडु (भूरी मिट्टी) और (७) पनक। कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं .—

७३. (१) शुद्ध पृथ्वी (२) शर्करा (३) बालू (४) उपल (५) शिला (६) लवण (७) नौनी मिट्टी (८) लोहा (९) राँगा (१०) ताँबा (११) शीशा (१२) चाँदी (१३) सोना (१४) वज्र—

७४. (१५) हरिताल (१६) हिंगुल (१७) मैनसिल (१८) सस्यक (१९) अजन (२०) प्रवाल (२१) अभ्रक पटल (२२) अभ्र बालुक। बादर पृथ्वीकाय मे मणियो के भेद, जैसे—

७५ (२३) गोमेदक (२४) रुचक (२५) अंक (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष (२७) मरकत एवं मसारगल्ल (२८) भुजमोचक (२९) इन्द्र-नील—

७६. (३०) चन्दन, गेरुक एवं हसगर्भ (३१) पुलक (३२) सौगन्धिक (३३) चन्द्रप्रभ (३४) वैडूर्य (३५) जलकान्त और (३६) सूर्यकान्त।

७७. कठोर पृथ्वी के ये छत्तीस प्रकार होते है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव एक ही प्रकार के होते है। उनमें नानात्व नही होता।[१]

७८ सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक मे और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं। इनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

---

१. ७१-७७ इन श्लोको में मृदु पृथ्वी के सात और कठिन पृथ्वी के छत्तीस प्रकार बतलाए गये हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन—सटिप्पण-संस्करण।

७६. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८० उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्ष की है।

८१. उनकी काय-स्थिति[1] जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असख्यात काल की है।

८२. उनका अन्तर[2] जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

८३ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते है।

८४ अप्कायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

८५. बादर पर्याप्त अप्कायिक जीवो के पाँच भेद होते है।

(१) शुद्धोदक (२) ओस (३) हरतनु[3] (४) कुहासा और (५) हिम।

८६ सूक्ष्म अप्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक मे तथा बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त है।

८७. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है।

८९. उनकी काय-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

९०. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

९१. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते हैं।

---

१. कायस्थिति—निरन्तर उसी एक काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा।

२. अन्तर—स्वकाय को छोडकर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल।

३. हरतनु—भूमि को भेद कर निकलता हुआ जल-बिन्दु।

९२. वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

९३. बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवो के दो भेद होते हैं—साधारण-शरीर[1] और प्रत्येक-शरीर[2]।

९४. प्रत्येक-शरीर वनस्पतिकायिक जीवो के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण।

९५. लता-वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (कुकुरमुत्ता आदि), जलरूह (कमल आदि), औषधि-तृण (अनाज) और हरित-काय—ये सब प्रत्येक-शरीर है।

९६. साधारण-शरीर वनस्पतिकायिक जीवो के अनेक प्रकार है—आलू, मूली, अदरक—

९७. हिरलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कदली-कन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक—

९८. लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सूरणकन्द—

९९. अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा आदि। ये सब साधारण-शरीर है।

१००. सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमे नानात्व नही होता। वे समूचे लोक मे तथा बादर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं।

१०१. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१०२. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत दस हजार वर्ष की है।

१०३. उनकी काय-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत: अनन्त काल की है।

१०४. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टः असख्यात काल का है।

---

१. साधारण-शरीर—जिसके एक शरार में अनेक जीव होते हैं, वह।

२. प्रत्येक-शरीर—जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, वह।

१०५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते हैं।

१०६. यह तीन प्रकार के स्थावर जीवों का सक्षिप्त वर्णन है। अब तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमशः निरूपण करूँगा।

१०७. तेजस्काय, वायुकाय और उदार त्रसकाय—ये तीन भेद त्रसकाय के हैं। अब इनके भेदो को मुझसे सुनो।

१०८. तेजस्कायिक जीवो के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते है।

१०६. बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला—

११०. उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते है। उसमें नानात्व नही होता।

१११. सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव समूचे लोक में और बादर तेजस्कायिक जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त है। अब मैं उनके चतुर्विध काल-बिभाग का निरूपण करूंगा।

११२. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

११३. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन दिन-रात की है।

११४. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असख्यात काल की है।

११५. उनका अन्तर जघन्यत अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

११६. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद हैं।

११७. वायुकायिक जीवो के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते है।

११८. बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवो के पाँच भेद होते हैं—(१) उत्कलिका (२) मण्डलिका (३) घनवात (४) गुंजावात और (५) शुद्धवात।

११६. उनके संवर्तक वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नही होता।

१२०. सूक्ष्म-वायुकायिक जीव समूचे लोक में और बादर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१२१ प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१२२ उनकी आयु-स्थिति जघन्यत: अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: तीन हजार वर्ष की है।

१२३. उनकी काय-स्थिति जघन्यत: अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: असंख्यात काल की है।

१२४ उनका अतर जघन्यत: अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: अनन्त काल का है।

१२५ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते है।

१२६. उदार त्रस-कायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पचेन्द्रिय।

१२७. द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के है—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१२८. कृमि, सौमगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शख, शखनक—

१२९ पल्लोय, अणुल्लक, कोडी, जौंक, जालक, चदनिया—

१३०. आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१३१ प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३२. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत: अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: बारह वर्ष की है।

१३३ उनकी काय-स्थिति जघन्यत अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: सख्यात काल की है।

१३४. उनका अतर जघन्यत· अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: अनन्त काल का है।

१३५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१३६. त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१३७. कुंथु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक—

१३८. कर्पासास्थि मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक, शतावरी, कानखजूरी, इन्द्रकायिक—

१३९. इंद्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नही।

१४०. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१४१. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत. अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः उनचास दिनो की है।

१४२. उनकी काय-स्थिति जघन्यत अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः सख्यात-काल की है।

१४३. उनका अन्तर जघन्यतः अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनतकाल का है।

१४४. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि मे उनके हजारों भेद होते है।

१४५. चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१४६. अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतग, ढिकुण, कुंकुण—

१४७. शृंगिरीटी, कुक्कुड, नन्दावर्त, बिच्छ, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक—

१४८. अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक—

१४९. आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में प्राप्त होते हैं, समूचे लोक मे नही।

१५०. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनत और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त होते हैं।

१५१. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः छह मास की है।

१५२. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१५३. उनका अंतर जघन्यत: अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१५४. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१५५. पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नैरयिक (२) तिर्यञ्च (३) मनुष्य और (४) देव।

१५६. नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं। वे सात पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियाँ ये हैं—(१) रत्नाभा, (२) शर्कराभा (३) बालुकाभा—

१५७. (४) पंकाभा (५) धूमाभा (६) तमः और (७) तमस्तमः—इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण ही नैरयिक सात प्रकार के कहे गए है।

१५८. वे लोक के एक भाग में हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१५९. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त है।

१६०. पहली पृथ्वी मे नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत: दस हजार वर्ष और उत्कृष्टत: एक सागरोपम की है।

१६१. दूसरी पृथ्वी मे नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत: एक सागरोपम और उत्कृष्टत: तीन सागरोपम की है।

१६२. तीसरी पृथ्वी में नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत. तीन सागरोपम और उत्कृष्टत: सात सागरोपम की है।

१६३. चौथी पृथ्वी में नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत: सात सागरोपम और उत्कृष्टत: दस सागरोपम की है।

१६४. पाँचवी पृथ्वी मे नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत: दस सागरोपम और उत्कृष्टत: सतरह सागरोपम की है।

१६५. छठी पृथ्वी में नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत· सतरह सागरोपम और उत्कृष्टत: बाईस सागरोपम की है।

१६६. सातवी पृथ्वी मे नैरयिको की आयु-स्थिति जघन्यत: बाईस सागरोपम और उत्कृष्टत: तेतीस सागरोपम की है।

१६७. नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यत: या उत्कृष्टत: काय-स्थिति है।

१६८. उनका अंतर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१६९. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७०. पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के हैं—सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च और गर्भ-उत्पन्न तिर्यञ्च।

१७१. ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१७२. जलचर जीव पांच प्रकार के हैं—(१) मत्स्य (२) कच्छप (३) ग्राह (४) मकर और (५) सुसुमार।

१७३. वे लोक के एक भाग में ही होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१७४. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१७५. उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः एक करोड़ पूर्व की है।

१७६. उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः (दो से नौ) पूर्व की है।

१७७. उनका अतर जघन्यतः अतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनत काल का है।

१७८. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७९. स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं — चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के है। वे तुम मुझ से सुनो।

१८०. (१) एक खुर—घोड़े आदि, (२) दो खुर—बैल आदि, (३) गंडीपद—हाथी आदि, (४) सनखपद—सिंह आदि।

१८१. परिसर्प के दो प्रकार हैं—(१) भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि। (२) उरःपरिसर्प —पेट के बल चलने वाले साँप आदि। ये दोनों अनेक प्रकार के होते हैं।

१८२. वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नही। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१८३. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१८४. स्थलचर जीवो की आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

१८५. जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक तीन पल्योपम की है—

१८६. यह स्थलचर जीवो की काय-स्थिति है। उनका अंतर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत· अनन्त-काल का है।

१८७. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते है।

१८८. खेचर जीव चार प्रकार के है—(१) चर्म पक्षी (२) रोम पक्षी (३) समुद्‌ग पक्षी और (४) वितत पक्षी।

१८९ वे लोक के एक भाग मे होते है—समूचे लोक में नहीं। अब मै उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१९०. प्रवाह की अपेक्षा मे वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत पल्योपम के असख्यातवें भाग की है।

१९२. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत. पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक पल्योपम का असख्यातवाँ भाग—

१९३. यह खेचर जीवो की काय-स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अन्त-र्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१९४ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते हैं।

१९५. मनुष्य दो प्रकार के है—सम्मूर्छिम और गर्भ-उत्पन्न।

१९६. गर्भ-उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के है—(१) अकर्म-भूमिक (२) कर्म-भूमिक और (३) अन्तर्द्वीपक।

१९७. कर्म-भूमिक मनुष्यो के पन्द्रह, अकर्म-भूमिक के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के अठाईस भेद होते है।

१९८. सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के भी उतने ही भेद है जितने गर्भ-उत्पन्न मनुष्यो के है। वे लोक के एक भाग में ही होते है।

१९९. प्रवाह की अपेक्षा से वे आदि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

२००. उनकी आयु-स्थिति जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: तीन पल्योपम की है।

२०१ जघन्यत: अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक तीन पल्योपम—

२०२. यह मनुष्यो की काय-स्थिति है। उनका अतर जघन्यत. अतर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: अनन्त काल का है।

२०३. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उसके हजारो भेद होते है।

२०४. देव चार प्रकार के हैं (१) भवनवासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

१०५. भवनवासी देव दस प्रकार के हैं। व्यन्तर आठ प्रकार के हैं। ज्योतिष्क पाँच प्रकार के हैं। वैमानिक दो प्रकार के हैं।

२०६ (१) असुर कुमार (२) नाग कुमार (३) सुपर्ण कुमार (४) विद्युत् कुमार (५) अग्नि कुमार (६) द्वीप कुमार (७) उदधि कुमार (८) दिक् कुमार (९) वायु कुमार और (१०) स्तनित कुमार—ये भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं।

२०७. (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गन्धर्व—ये व्यन्तर देवों के आठ नाम हैं।

२०८. (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) नक्षत्र (४) ग्रह और (५) तारा—ये पाँच भेद ज्योतिष्क देवो के हैं। ये दिशा-विचारी—मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले है।

२०९. वैमानिक देवो के दो प्रकार है—कल्पोपग और कल्पातीत।

२१०. कल्पोपग बारह प्रकार के हैं—(१) सौधर्म (२) ईशानक (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक—

२११. (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत।

२१२ कल्पातीत देवो के दो प्रकार हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर। ग्रैवेयको के निम्नोक्त नौ प्रकार हैं।

२१३. (१) अध:-अधस्तन (२) अध:-मध्यम (३) अध:-उपरितन (४) मध्य-अधस्तन—

२१४. (५) मध्य-मध्यम (६) मध्य-उपरितन (७) उपरि-अधस्तन (८) उपरि- मध्यम—

२१५. और (९) उपरि-उपरितन—ये ग्रैवेयक देव हैं। (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित—

२१६. और (५) सर्वार्थसिद्धक—ये अनुत्तर देवों के पांच प्रकार हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार है।

२१७. वे सब लोक के एक भाग में रहते हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

२१८. प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त है।

२१९. भवनवासी देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक एक सागरोपम है।

२२० व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक पल्योपम की है।

२२१. ज्योतिष्क देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्टतः एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२२२. सौधर्म देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक पल्योपम और उत्कृष्टत. दो सागरोपम की है।

२२३. ईशान देवों की आयु-स्थिति जघन्यत किंचित् अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्टतः किंचित अधिक दो सागरोपम की है।

२२४. सनत्कुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दो सागरोपम और उत्कृष्टत. सात सागरोपम की है।

२२५ माहेन्द्रकुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् दो सागरोपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक सात सागरोपम की है।

२२६ ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

२२७. लान्तक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की है।

२२८. महाशुक्र देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौदह सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

२२९. सहस्रार देवों की आयु-स्थिति जघन्यत: सतरह सागरोपम और उत्कृष्टत: अठारह सागरोपम की है।

२३०. आनत देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: अठारह सागरोपम और उत्कृष्टत: उन्नीस सागरोपम की है।

२३१. प्राणत देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्टत: बीस सागरोपम की है।

२३२. आरण देवों की आयु-स्थिति जघन्यत: बीस सागरोपम और उत्कृष्टत: इक्कीस सागरोपम की है।

२३३. अच्युत देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: इक्कीस सागरोपम और उत्कृष्टत: बाईस सागरोपम की है।

२३४ प्रथम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: बाईस सारोगपम और उत्कृष्टत तेईस सागरोपम की है।

२३५. द्वितीय ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: तेईस सागरोपम और उत्कृष्टत: चौबीस सागरोपम की है।

२३६ तृतीय ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: चौबीस सागरोपम और उत्कृष्टत: पचीस सागरोपम की है।

२३७ चतुर्थ ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: पचीस सागरोपम और उत्कृष्टत छब्बीस सागरोपम की है।

२३८. पचम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: छब्बीस सागरोपम और उत्कृष्टत: सत्ताईस सागरोपम की है।

१३९ षष्ठ ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: सत्ताईस सागरोपम और उत्कृष्टत: अठाईस सागरोपम की है।

२४० सप्तम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: अठाईस सागरोपम और उत्कृष्टत: उनतीस सागरोपम की है।

२४१. अष्टम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: उनतीस सागरोपम और उत्कृष्टत: तीस सागरोपम की है।

२४२. नवम ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत: तीस सागरोपम और उत्कृष्टत: इकतीस सागरोपम की है।

२४३. विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की आयु-स्थिति जघन्यत: इकतीस सागरोपम और उत्कृष्टत: तेतीस सागरोपम की है।

२४४. सर्वार्थसिद्धक देवो की जघन्यतः और उत्कृष्टतः आयु-स्थिति तेतीस सागरोपम की है।

२४५. सारे ही देवो की जितनी आयु-स्थिति है उतनी ही उसकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः काय-स्थिति है।

२४६. उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

२४७. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते है।

२४८. ससारी और सिद्ध—इन दोनो प्रकार के जीवो की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार रूपी और अरूपी—इन दोनो प्रकार के अजीवो की व्याख्या की गई है।

२४९. इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर, उसमे श्रद्धा उत्पन्न कर मुनि सभी नयो के द्वारा अनुमत सयम मे रमण करे।

२५० मुनि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर इस क्रमिक प्रयत्न से आत्मा को कसे—सलेखना करे।

२५१ सलेखना उत्कृष्टत बारह वर्ष, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यत. छह मास की होती है।

२५२. सलेखना करने वाला मुनि चार वर्षों मे विकृतियो (रसो) का परित्याग करे। दूसरे चार वर्षो मे विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे।

२५३. फिर दो वर्षो तक एकान्तर तप[1] करे। भोजन के दिन आचाम्ल करे। ग्यारहवे वर्ष के पहले छह महीनो तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे।

२५४ ग्यारहवे वर्ष के पिछले छह महीनो मे विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष मे परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. बारहवे वर्ष मे मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहार त्याग (अनशन) करे।

२५६. कादर्पी भावना, आभियोगी भावना, किल्विषिकी भावना, मोही

---

१. एकान्तर तप—ऐसी तपस्या जिसमें एक दिन उपवास और एक दिन भोजन किया जाता है।

भावना तथा आसुरी भावना—ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

२५७. मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और हिंसक दशा में जो मरते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८ सम्यग्-दर्शन में रक्त, अनिदान और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है।

२५९ जो मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान होते है उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२६०. जो जिन-वचन में अनुरक्त है तथा जिन-वचनो का भाव-पूर्वक आचरण करते है वे निर्मल और असक्लिष्ट होकर अल्प जन्म-मरण वाले हो जाते है।

२६१. जो प्राणी जिन-वचनो से परिचित नही है वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे।

२६२. जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते है वे अपने इन्ही गुणो के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं।

२६३. जो काम-कथा करता रहता है, दूसरो को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरो को विस्मित करता रहता है, वह कादर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४ जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मन्त्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५ जो ज्ञान, केवल-ज्ञानी, धर्माचार्य, सघ तथा साधुओ की निन्दा करता है वह मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना का आचरण करता है।

२६६. जो क्रोध को सतत बढावा देता रहता है और निमित्त कहता है वह अपनी इन प्रवृत्तियो के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है।

२६७. जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा, अग्नि मे प्रविष्ट होकर या पानी मे कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता हैं वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है।

२६८. इस प्रकार भव्य जीवों द्वारा सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनो का तत्त्ववेत्ता, उपशान्तात्मा, ज्ञात-वशीय भगवान् महावीर ने प्रादुष्करण किया।

—ऐसा मैं कहता हूँ

परिशिष्ट

(इकतीसवें अध्ययन में आए हुए कुछ-एक विषयों का विवरण)

श्लोक ९ :

१. आहार-सम्बन्धी सात अभिग्रह—

(१) संसृष्टा – खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा—भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा—अल्प लेप वाली अर्थात् चना, चिउडा आदि रूखी वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता - खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता—परसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।

२. स्थान-सम्बन्धी सात अभिग्रह—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नहीं।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरों के द्वारा याचित स्थान में मैं रहूँगा।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में नहीं रहूँगा।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में रहूँगा।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नहीं।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त हो तो लूंगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन में बैठ-बैठे रात बिताऊँगा।

(७) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ ही सहज बिछे हुए शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त हो तो लूंगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन मे बैठे-बैठे रात बिताऊँगा।

३. भय के सात स्थान—

(१) इहलोक-भय—सजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को मनुष्य से भय, देव को देव से भय।

(२) परलोक-भय विजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को देव, तिर्यञ्च आदि का भय।

(३) आदान-भय—धन आदि पदार्थों के अपहरण करने वाले से होने वाला भय।

(४) अकस्मात्-भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना ही उत्पन्न होने वाला भय, अपने ही विकल्पों से होने वाला भय।

(५) वेदना-भय- पीडा आदि से उत्पन्न भय।

(६) मरण-भय मृत्यु का भय।

(७) अश्लोक-भय अकीर्ति का भय।

श्लोक १० :

४. आठ मद-स्थान—

(१) जाति-मद
(२) कुल-मद
(३) बल-मद
(४) रूप-मद
(५) तपो-मद
(६) श्रुत-मद
(७) लाभ-मद
(८) ऐश्वर्य-मद।

५. ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ—

देखे उत्तराध्ययन का सोलहवाँ अध्ययन।

६. दस प्रकार का भिक्षु-धर्म—

(१) क्षान्ति
(२) मुक्ति (अनासक्ति)
(३) मार्दव
(४) आर्जव
(५) लाघव
(६) सत्य
(७) संयम
(८) तप
(९) त्याग
(१०) ब्रह्मचर्य।

श्लोक ११ :

७. उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं—

(१) दर्शन-श्रावक
(२) कृत-व्रत श्रावक
(३) कृत-सामायिक
(४) पौषधोपवास निरत
(५) दिन मे ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला।
(६) दिन और रात मे ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन मे भोजन करने वाला और कच्छ न बाँधने वाला।
(७) सचित्त-परित्यागी
(८) आरम्भ-परित्यागी
(९) प्रेष्य-परित्यागी
(१०) उद्दिष्ट-भक्त-परित्यागी
(११) श्रमण-भूत

८. भिक्षु की बारह प्रतिमाएं—

(१) एक मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(२) दो मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(३) तीन मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(४) चार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(५) पाँच मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(६) छह मासिकी भिक्षु-प्रतिमा
(७) सात मासिकी भिक्षु-प्रतिमा।
(८) तत्पश्चात् प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा
(९) दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा
(१०) तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा
(११) एक अहोरात्र की भिक्षु-प्रतिमा
(१२) एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा।

श्लोक १२ :

९. तेरह क्रियाएं—

(१) अर्थ-दण्ड—शरीर, स्वजन, धर्म आदि प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा।

(२) अनर्थ-दण्ड—बिना प्रयोजन मौज-शौक के लिए की जाने वाली हिंसा।

(३) हिंसा-दण्ड—इसने मुझे मारा था, मारता है, मारेगा—इस प्रणिधान से हिंसा करना।

(४) अकस्मात्-दण्ड—एक के वध की प्रवृत्ति करते हुए अकस्मात् दूसरे की हिंसा कर डालना ।

(५) दृष्टि-विपर्यास-दण्ड—मति-भ्रम से होने वाली हिंसा अथवा मित्र आदि को अमित्र बुद्धि से मारना ।

(६) मृषावाद-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए मृषावाद से होने वाली हिंसा ।

(७) अदत्तादान-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए अदत्तादान से होने वाली हिंसा ।

(८) आध्यात्मिक—बाह्य निमित्त के बिना, मन में स्वतः उत्पन्न होने वाली हिंसा ।

(९) मान-प्रत्यय—जाति आदि के मद से होने वाली हिंसा ।

(१०) मित्र-द्वेष-प्रत्यय—माता-पिता या दास-दासी के अल्प अपराध में भी बड़ा दण्ड देने से होने वाली हिंसा ।

(११) माया-प्रत्यय—माया से होने वाली हिंसा ।

(१२) लोभ-प्रत्यय—लोभ से होने वाली हिंसा ।

(१३) ऐर्या-पथिक—केवल योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से होने वाला कर्म-बन्धन ।

१०. पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देव—

(१) अम्ब
(२) अम्बरिष
(३) श्याम
(४) शबल
(५) रुद्र
(६) उपरुद्र
(७) काल
(८) महाकाल
(९) असिपत्र
(१०) धनु
(११) कुम्भ
(१२) बालुक
(१३) वैतरणि
(१४) खरस्वर
(१५) महाघोष ।

श्लोक १३ :

११. सत्रह प्रकार का असंयम—

(१) पृथ्वीकाय-असयम
(२) अप्काय-असयम
(३) तेजस्काय-असयम
(४) वायुकाय-असयम
(५) वनस्पतिकाय-असयम
(६) द्वीन्द्रिय-असंयम
(७) त्रीन्द्रिय-असयम
(८) चतुरिन्द्रिय-असयम
(९) पंचेन्द्रि य-असयम
(१०) अजीवकाय-असयम
(११) प्रेक्षा-असयम—अप्रतिलेखन या अविधि प्रतिलेखन से होने वाला असंयम।
(१२) उपेक्षा-असयम—सयम की उपेक्षा और असयम में व्यापार।
(१३) अपहृत्य-असयम उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठापन करने से होने वाला असयम।
(१४) अप्रमार्जन असयम—पात्र आदि का अप्रमार्जन या अविधि से प्रमार्जन करने से होने वाला असयम।
(१५) मन-असयम
(१६) वचन-असयम
(१७) काय-असयम

श्लोक १४ :

१२ अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य—

देखे—उत्तराध्ययन का सटिप्पण सस्करण।

१३. ज्ञाता धर्म-कथा के उन्नीस अध्ययन—

(१) उत्क्षिप्त ज्ञात
(२) सघाट
(३) अण्ड
(४) कूर्म
(५) सेलक
(६) तुम्ब
(७) रोहणी
(८) मल्ली
(९) माकन्दी
(१०) चन्द्रिका
(११) दावद्रव
(१२) उदक-ज्ञात
(१३) मडूक
(१४) तेतली
(१५) नन्दी-फल
(१६) अवरकका
(१७) आकीर्ण
(१८) सुसमा
(१९) पुण्डरीक ज्ञात।

१४. बीस असमाधि-स्थान—

(१) धम-धम करते चलना।
(२) प्रमार्जन किए बिना चलना।
(३) अविधि से प्रमार्जन कर चलना।

(४) प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखना ।
(५) रात्निक साधुओं का पराभव - तिरस्कार करना, उनके सामने मर्यादा-रहित बोलना ।
(६) स्थविरों का उपघात करना ।
(७) प्राणियों का उपघात करना ।
(८) प्रति क्षण क्रोध करना ।
(९) अत्यन्त क्रोध करना ।
(१०) परोक्ष मे अवर्णवाद बोलना ।
(११) बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलना ।
(१२) अनुत्पन्न नए-नए कलहों को उत्पन्न करना ।
(१३) उपशमित और क्षपित पुराने कलहों की उदीरणा करना ।
(१४) सरजस्क हाथ-पैरों का व्यापार करना ।
(१५) अकाल मे स्वाध्याय करना ।
(१६) कलह करना ।
(१७) रात्रि मे जोर से बोलना ।
(१८) झंझा (खटपट) करना ।
(१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करना ।
(२०) एषणा समिति रहित होना ।

श्लोक १५ :

१५. इक्कीस प्रकार के शबल दोष—

(१) हस्त-कर्म करना ।
(२) मैथुन का प्रतिसेवन करना ।
(३) रात्रि-भोजन करना ।
(४) आधा-कर्म आहार करना ।
(५) सागारिक (शय्यातर) पिंड खाना ।
(६) औद्देशिक, क्रीत या सामने लाकर दिया जाने वाला भोजन करना ।
(७) बार-बार प्रत्याख्यान कर खाना ।
(८) एक महीने के अन्दर एक गच्छ से दूसरे गच्छ में जाना ।
(९) एक महीने के अंदर तीन उदक-लेप लगाना ।
(१०) एक महीने मे तीन बार माया का सेवन करना ।

(११) राज-पिण्ड का भोजन करना।
(१२) जान-बूझ कर हिंसा करना।
(१३) जान-बूझ कर मृषावाद बोलना।
(१४) जान-बूझ कर अदत्तादान लेना।
(१५) जान-बूझ कर अंतर-रहित (सचित्त) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करना।
(१६) जान-बूझकर सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त शिला पर, घुण वाले काष्ठ पर शय्या अथवा निषद्या करना।
(१७) जीव सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिंग सहित, लीलन-फूलन, कीचड तथा मकडी के जाल वाली तथा इसी प्रकार की अन्य पृथ्वी पर बैठना, सोना और स्वाध्याय करना। त्वक् का भोजन, प्रवाल का भोजन, पुष्प का भोजन, फूल का भोजन करना।
(१८) जान-बूझकर मूल का भोजन, कन्द का भोजन, हरित का भोजन करना।
(१९) एक वर्ष में दस उदक-लेप लगाना।
(२०) एक वर्ष मे दस बार माया-स्थान का सेवन करना।
(२१) सचित्त जल से लिप्त हाथो से बार-बार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को लेना तथा उन्हे खाना।

श्लोक १६ :

१६. सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययन—

सूत्रकृताग के दो विभाग है— (१) प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १६ अध्ययन हैं और (२) दूसरे श्रुतस्कन्ध मे ७ अध्ययन है—

(१) समय
(२) वैतालिक
(३) उपसर्ग-परिज्ञा
(४) स्त्री-परिज्ञा
(५) नरक-विभक्ति
(६) महावीर-स्तुति
(७) कुशील-परिभाषित
(८) वीर्य
(९) धर्म
(१०) समाधि
(११) मार्ग
(१२) समवसरण
(१३) यथातथ्य
(१४) ग्रन्थ
(१५) यमक
(१६) गाथा
(१७) पुडरीक
(१८) क्रिया-स्थान
(१९) आहार-परिज्ञा
(२०) अप्रत्याख्यान-परिज्ञा
(२१) अनगार-श्रुत
(२२) आर्द्रकुमारीय
(२३) नालन्दीय।

१७ चौबीस प्रकार के देव—

१० प्रकार के भवनपति देव।

८ प्रकार के व्यन्तर देव।

५ प्रकार के ज्योतिष देव।

१ समस्त वैमानिक देव।

अथवा – २४ तीर्थंकर।

श्लोक १७ .

१८. पचीस भावनाएँ—

भावना का अर्थ है—वह क्रिया जिससे आत्मा को संस्कारित, वासित या भावित किया जाता है। पाँच महाव्रतों की पचीस भावनाएं है। (देखें—आचारांग २।१५)

१९. छब्बीस उद्देश—

दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार—इन तीन सूत्रों के २६ उद्देशन-काल हैं—दशाश्रुतस्कंध के १० उद्देशन-काल।

कल्प (बृहत्कल्प) के ६ उद्देशन-काल।

व्यवहार-सूत्र के १० उद्देशन-काल।

श्लोक १८ :

२०. साधु के सत्ताईस गुण—

(१) प्राणातिपात से विरमण
(२) मृषावाद से विरमण
(३) अदत्तादान से विरमण
(४) मैथुन से विरमण
(५) परिग्रह से विरमण
(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह
(७) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह
(८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह
(९) रसनेन्द्रिय निग्रह
(१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह
(११) क्रोध-विवेक
(१२) मान-विवेक
(१३) माया-विवेक
(१४) लोभ-विवेक
(१५) भाव-सत्य
(१६) करण-सत्य
(१७) योग-सत्य
(१८) क्षमा
(१९) विरागता
(२०) मन-समाधारणता
(२१) वचन-समाधारणता
(२२) काय-समाधारणता
(२३) ज्ञान-सम्पन्नता
(२४) दर्शन-सम्पन्नता
(२५) चारित्र-सम्पन्नता
(२६) वेदना-अधिसहन
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।

२१. **अठाईस आचार-प्रकल्प—**

प्रकल्प का अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो'। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन, दूसरे श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन और निशीथ सूत्र के तीन अध्ययन [९+१६+३=२८] को आचार-प्रकल्प कहा गया है।

विशेष विवरण के लिये देखें—उत्तराध्ययन, सटिप्पण संस्करण।

श्लोक १९ :

२२. **उनतीस पाप-श्रुत-प्रसंग—**

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं, उन्हें 'पाप-श्रुत' कहते हैं। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् अभ्यास पाप-श्रुत प्रसंग है। वे २९ हैं—

(१) भौम—भूकम्प आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(२) उत्पात—स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(३) स्वप्न—स्वप्न के शुभाशुभ फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(४) अंतरिक्ष—आकाश में उत्पन्न होने वाले नक्षत्रों के युद्ध का फलाफल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(५) अंग—अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(६) स्वर—स्वर के शुभाशुभ फल का निरूपण करने वाला निमित्त-शास्त्र।

(७) व्यञ्जन—तिल, मसा आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

(८) लक्षण—अनेक प्रकार के लक्षणों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र। इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते है—(१) सूत्र, (२) वृत्ति और (३) वार्तिक। इस तरह २४ पाप-श्रुत प्रसंग हुए। अवशेष निम्न प्रकार हैं—

(२५) विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ। जैसे—कामन्दक, वात्स्यायन, भारत आदि।

(२६) विद्यानुयोग—रोहिणी आदि विद्या की सिद्धि बताने वाला शास्त्र।

(२७) मंत्रानुयोग—मंत्र-शास्त्र।

(२८) योगानुयोग—वशीकरण-शास्त्र, हर-मेखलादि शास्त्र।

(२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

२३. मोह के तीस स्थान—

मोह कर्म के परमाणु व्यक्ति को मूढ बनाते हैं। उनका संग्रह व्यक्ति अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करता है। यहाँ महामोह उत्पन्न करने वाली तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं—

(१) त्रस-प्राणी को पानी में डुबो कर मारना।

(२) सिर पर चर्म आदि बाँध कर मारना।

(३) हाथ से मुख बंद कर सिसकते हुए प्राणी को मारना।

(४) मण्डप आदि में मनुष्यों को घेर, वहाँ अग्नि जला, धुएँ की घुटन से उन्हें मारना।

(५) संक्लिष्ट चित्त से सिर पर प्रहार करना, उसे फोड डालना।

(६) विश्वासघात कर मारना।

(७) अनाचार को छिपाना, माया को माया से पराजित करना, की हुई प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करना।

(८) अपने द्वारा कृत हत्या आदि महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।

(९) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र-भाषा बोलना— सत्यांश की ओट में बड़े झूठ को छिपाने का यत्न करना और कलह करते ही रहना।

(१०) अपने अधिकारी की स्त्रियों या अर्थ-व्यवस्था को अपने अधीन बना उसे अधिकार और भोग-सामग्री से वंचित कर डालना, रूखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने-आप को बाल-ब्रह्मचारी कहना।

(१२) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने-आप को ब्रह्मचारी कहना।

(१३) जिसके सहारे जीविका चलाए, उसी के धन को हड़पना।

(१४) जिस ऐश्वर्यशाली व्यक्ति या जन-समूह के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी के भोगों का विच्छेद करना।

(१५) पोषण देने वाले व्यक्ति, सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना।

(१६) राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारी-प्रमुख), सुप्रसिद्ध सेठ को मार डालना।

(१७) जो जनता के लिए द्वीप और त्राण हो, वैसे जन-नेता को मार डालना।

(१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और संयमी साधु को संयम से विमुख करना।

(१९) अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना—सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना।

(२०) मोक्ष-मार्ग की निन्दा कर जनता को उससे विमुख करना।

(२१) जिन आचार्य और उपाध्याय से शिक्षा प्राप्त की हो उन्ही की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सेवा और पूजा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आप को बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होते हुए भी अपने-आप को तपस्वी कहना।

(२५) ग्लान साधार्मिक की 'उसने मेरी सेवा नहीं की थी' इस कलुषित भावना से सेवा न करना।

(२६) ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनाश करने वाली कथाओं का बार-बार प्रयोग करना।

(२७) अपने मित्र आदि के लिए बार-बार निमित्त, वशीकरण आदि का प्रयोग करना।

(२८) मानवीय या पारलौकिक भोगों की लोगों के सामने निन्दा करना और छिपे-छिपे उनका सेवन करते जाना।

(२९) देवताओं की ऋद्धि, द्युति, बल और वीर्य का मखौल करना।

(३०) देव-दर्शन न होने पर भी 'देव-दर्शन हो रहा है' ऐसा कहना।